

ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग  
सहजानंद शास्त्रमाला

# ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री  
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती अर्चना जैन, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto:Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन#

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।  
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।  
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।  
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।  
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।  
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥  
अहिंसा परमोधर्म

## आत्म रमण

में दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥टेक॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।  
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०॥१॥

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।  
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥२॥

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।  
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥३॥

## Table of Contents

प्रकाशकीय .....	- 2 -
आत्मकीर्तन.....	- 3 -
आत्म रमण .....	- 4 -
श्लोक-199 .....	1
श्लोक-200 .....	6
श्लोक-201 .....	16
श्लोक-202 .....	18
श्लोक-203 .....	21
श्लोक-204 .....	26
श्लोक-205 .....	30
श्लोक-206 .....	32
श्लोक-207 .....	35
श्लोक-208 .....	37
श्लोक-209 .....	39
श्लोक-210 .....	42
श्लोक-211 .....	44
श्लोक-212 .....	47
श्लोक-213 .....	49
श्लोक-214 .....	51
श्लोक-215 .....	54
श्लोक-216 .....	55
श्लोक-217 .....	57

श्लोक-218.....	58
श्लोक-219.....	62
श्लोक-220.....	63
श्लोक-221.....	64
श्लोक-222.....	67
श्लोक-223.....	68
श्लोक-224.....	70
श्लोक-225.....	72
श्लोक-226.....	76
श्लोक-227.....	78
श्लोक-228.....	79
श्लोक-229.....	81
श्लोक-230.....	83
श्लोक-231.....	84
श्लोक-232.....	86
श्लोक-233.....	89
श्लोक-234.....	90
श्लोक-235.....	92
श्लोक-236.....	93
श्लोक-237.....	94
श्लोक-238.....	95
श्लोक-239.....	97
श्लोक-240.....	98
श्लोक-241.....	99
श्लोक-242.....	104
श्लोक-243.....	109
श्लोक-244.....	112

## ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग

### श्लोक-199

पवित्री क्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्  
नमस्तमै दयार्द्राय धर्मकल्पांग्रिपाय वै॥199॥

धर्म से लोक की पवित्रता व उद्धार—जिस धर्म के द्वारा यह जगत् पवित्र किया जाता है, इस जगत् का उद्धार होता है और जो धर्म दयारूप परम रस से सदा हरा रहता है उस धर्मरूप कल्पवृक्ष के लिए हमारा नमस्कार हो। धर्म एक कल्पवृक्ष है। यदि धर्म से परिपूर्ण कोई है तो धर्म के प्रसाद से जो चाहे सो मिल सकता है। प्रथम तो इस धर्म की सेवा के एवज में जगत् की कुछ भी चीज की वाञ्छा न करना चाहिए। जैसे प्रभुभक्ति वही वास्तविक कहलाती है कि प्रभु की भक्ति करके प्रभुभक्ति के एवज में अन्य कुछ न चाहा जाय। यदि धनलाभ व मुकदमें की जीव या संतानलाभ यह कुछ चाह लिया गया प्रभुभक्ति के प्रसाद में, तो भी प्रभुभक्ति नहीं रही। प्रभुभक्ति निष्कपट भाव से होती है। केवल प्रभु की ही भक्ति रहे, प्रभु के गुणों का ही स्मरण रहे ऐसी निष्कपट भक्ति हो तो वह प्रभुभक्ति नहीं है। यदि धन की चाह में प्रभु की भक्ति की जा रही है तो वह प्रभुभक्ति नहीं है धनभक्ति है। हृदय में जिसका आदर हो भक्ति तो उसी की कहलाती है। यदि प्रभु का आदर है तो वह प्रभुभक्ति है। यों धर्म की भी भक्ति वास्तविक वह है कि धर्म करके संसार की कुछ भी चीज न चाही जाय। यदि संसार की वस्तु चाह ली गयी तो उस वस्तु की भक्ति हुई धर्म की भक्ति नहीं हुई। इस पद्धति से यदि धर्म का पालन किया जाय तो वह धर्म कल्पवृक्ष है।

धर्म कल्पवृक्ष का प्रसाद—यहाँ जिसको जो कुछ मिला है वह सब धर्म कल्पवृक्ष प्रसाद है। जिसने पूर्व जन्म में धर्म किया था, त्याग किया था, तपदान किया था उसका यह पुण्य फल रहा है जो कुछ आज अच्छी स्थिति मिली है। धर्म करने के योग्य हमें सब वातावरण मिला है आजीविका की अस्थिरता भी मिली है, करोड़ों मनुष्यों की अपेक्षा में अपनी स्थिति अच्छी है यह सब धर्म का प्रताप है। इस धर्म कल्पवृक्ष में वह अद्भुत प्रताप है कि इसकी छत्रछाया में बैठकर जो हित की बातें हैं वे सब सिद्ध हो जाती हैं। इस संसार में किन्हीं भी बाह्य वस्तुओं की ओर दृष्टि लगायी तो उससे कुछ सिद्धि नहीं है। प्रत्युत आकुलता ही आकुलता है, किन्तु धर्म शरण गहने में सर्वत्र निराकुलता ही निराकुलता है।

**जगत में दुःखों का प्रसार**—जगत में सर्वत्र देखो दुःख ही दुःख छाया है। पशुओं की दशायें देखो, कैसे ये लाये जाते हैं, न चलें तो डंडों से पीटे जाते हैं। उन पशुओं के मारने वालों के चित्त में यह बात नहीं आ पाती कि किसे मार रहे हैं? ऐसा ही तो मेरा रूप था हम भी ऐसे पशु बने। और इन्हें मार रहे हैं तो इसके फल में हम भी ऐसे ही बनेंगे, पिटेंगे यह ध्यान नहीं जाता है पशुओं के मारने वालों के चित्त में। यह तो मारने की बात है। जो लोग पशुओं की हिंसा कर डालते हैं केवल एक मांस खाने के शौक में उनके चित्त में कितनी क्रूरता समायी हुई है और चूँकि वे मारने वाले भी जीव हैं तो उन्हें थोड़ा सा यह भी भान हो जाता है कि हम बुरा कर रहे हैं, पर बुरा काम करने की कितनी तीव्र कषाय जगी है और मिथ्यात्व का इतना गहरा रंग चढ़ा है कि रहे सहे डर को मिटाने के ख्याल से वे भगवान का नाम लिया करते हैं और कुछ भी धर्म के बहाने पाठ बना डालते हैं कि जिससे वे यह सन्तोष कर लेते कि हमने पाप नहीं किया। लेकिन पाप तो पाप ही हैं। कौन पूछता है कि इन कीड़े मकौड़ों को इन पक्षियों को जो चाहे शिकारी निर्दयता से मार डालता है तो सारा जगत् दुःखों से भरा हुआ है।

**निगोद से निकलने की दुर्लभता**—इस जीव का मूल आदि निवास निगोदभव था। निगोद निवास प्रसिद्ध नहीं है। जैन सिद्धान्त में ही इसकी व्याख्या की गई है। इतने सूक्ष्म जीव होते हैं ये कि जिसके शरीर का आकार आप कुछ बना ही नहीं सकते। पानी का पतला बूँद जमीन पर गिर जाय, वह बूँद जिस जगह गिरता है उतनी जगह में तो अनन्त निगोद के जीव समा जाते हैं और एक शरीर के अनन्त निगोद जीव मालिक रहते हैं। जैसे हम आप यहाँ एक शरीर के एक मालिक हैं। हमारे शरीर के 50 मनुष्य तो मालिक नहीं हैं, लेकिन निगोदभव में तो शरीर एक है और वह अनन्त निगोद जीवों का रहता है और इसी कारण जो जीव मरता है तो उसके साथ ही वे सब जीव मरते हैं और जन्मता है तो उसके साथ सब जन्मते हैं और एक बार नाड़ी के चलने में जितना समय लगता है उतने समय में 18 बार मरण हो जाता है। उनके दुःख को कौन जान सकता है, ऐसा कठिन भव हम आप लोगों का सबका था प्रारम्भ में। जितने सिद्ध भगवान हुए हैं उनकी भी प्रारम्भ में निगोद अवस्था थी, वे भी तो संसार से मुक्त हुए। समस्त जीवों की प्रारम्भिक दशा निगोद अवस्था थी। तो उस निगोद से ही निकलना बहुत कठिन था। अनन्त निगोदिया जीव ऐसे अब भी निगोद में हैं जो कभी भी निगोद से नहीं निकले हैं। अब तक अनादिकाल से निगोद में चले आये है।

**निगोद से निकलकर स्थावरों में भ्रमण**—हम आपकी स्थिति देखो इस समय कितनी उत्तम मिली हुई है। हम आप कितनी कुगतियों से पार होकर आज मनुष्य हुए हैं। निगोद से निकले तो अन्य स्थावरों में निवास रहा। निगोद भी स्थावर जीव हैं और वह वनस्पति का भेद है। निगोद साधारण वनस्पति को कहते हैं। उस निगोद दशा से निकला तो यह जीव पृथ्वीकाय हुआ, जलकाय हुआ, अग्निकाय हुआ और प्रत्येक वनस्पतिकाय हुआ। इन स्थावरों में बहुत काल भ्रमण किया। वहाँ से भी निकलना कठिन था। सब एकेन्द्रियों

में सिर्फ एक स्पर्शनइन्द्रिय है। उस स्पर्शनइन्द्रिय के द्वारा वे अपना काययोग करते हैं और उसी को भोगा करते हैं जो कुछ भोगा जा सकता है।

**एकेन्द्रिय से निकलकर विकलत्रिकों में भ्रमण**—एकेन्द्रिय से निकले तो दो इन्द्रिय में जन्म हुआ। एकेन्द्रिय की अपेक्षा दो इन्द्रिय का जीवन जरा महान् है। यहाँ जिह्वा और उत्पन्न हो गयी, जैसे केंचुवा, लट, जोक, शंख, सीप, कौड़ी इनमें रहने वाले जो जीव हैं वे दो इन्द्रिय जीव हैं। इसके रसना इन्द्रियावरण का क्षयोपशम हुआ है। रसनाइन्द्रियजन्य ज्ञान के वे अधिकार बने। दो इन्द्रिय से अब यह जीव त्रस कहलाता है। त्रस इन्द्रिय के घात से मांस उत्पन्न होता है। एकेन्द्रिय जीव के घात से मांस नहीं होता। वह उनका शरीर है। दो इन्द्रिय से बड़ी कठिनाई से निकला यह जीव तो तीनइन्द्रिय हुआ। अब यह ज्ञान का विकास जरा और बढ़ गया। घ्राणइन्द्रिय से भी ज्ञान करने लगा। लेकिन मन बिना बेहोश है। केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान को भोग रहा है, पर विवेक नहीं उत्पन्न हुआ। तीनइन्द्रिय से निकलकर चारइन्द्रिय हुआ। यहाँ एकेन्द्रिय की प्राप्ति और हुई। नेत्रइन्द्रियावरण का क्षयोपशम मिला, ज्ञान भी विशेष मिला लेकिन अब मन तक नहीं है। भँवरा, ततैया, मक्खी, मच्छर ये सब चतुरिन्द्रिय जीव हैं। यह कहानी हम आप सबकी है, कैसे-कैसे भव पाये हैं, कैसे-कैसे क्लेश भोगे हैं और आज कुछ अच्छी स्थिति में आये हैं तो यहाँ ऐसी स्थिति बना ली है कि विषयवासनाओं में फँस गये हैं।

**पञ्चेन्द्रियों में जन्म की दुर्लभता**—चारइन्द्रिय जीव से किसी तरह से यह निकला तो पञ्चेन्द्रिय हुआ। पञ्चेन्द्रिय में कर्णइन्द्रियजन्य ज्ञान की उपलब्धि हो गयी। सुन करके भी इसके ज्ञान होने लगा। पञ्चेन्द्रिय में भी असैनी हुआ तो उन्हीं विकलत्रियों की भाँति अविवेकी रहा। कभी संज्ञा पञ्चेन्द्रिय हुआ तो वहाँ विषयकषायों से मलिन वहाँ भी अविवेकी रहा तो उससे भी क्या लाभ हुआ? हम आप सब पञ्चेन्द्रिय है, मन सहित हैं, और साथ ही यह भी निरख लें कि अनेक जीवों से हम आपकी बहुत अच्छी स्थिति है।

**मनुष्यों में क्लेश का निर्माण**—मनुष्य होकर भी जो जीवन एक बोझीला सा हो जाता है। वह सब तृष्णा का प्रसाद है। तृष्णा की तो कहीं हद ही नहीं है। 100 हों तो हजार, लाख हों तो करोड, यों इस वैभव के बढ़ने से भी कभी सन्तोष नहीं मिलता और गजब की बात यह देखो कि उस धन से कुछ अपना लाभ नहीं। किसके लिए कमाया जाता है। सबको दो रोटियों से प्रयोजन है और थोड़ा ठंड, गर्मी से बचने के लिए कपड़े का प्रयोजन है, इससे अधिक धन का कोई खास काम नहीं है, सिर्फ दो रोटियों की पूर्ति सबके लगी हुई है, जो लोग धनी होने की होड़ मचा रहे हैं वे इस असार मायामयी दुनिया में अपना नाम जाहिर करने के ख्याल से होड़ मचा रहे हैं।

**यथार्थ उद्देश्य के बिना भटक**—यदि यह सही उद्देश्य बन जाय तो भला है कि हम मनुष्य हैं और हमें जैनशासन मिला है तो इसीलिए मिला है कि हम इस जैन धर्म से लाभ लूट लें, आत्मा में खूब ज्ञानप्रकाश

बढ़ायें जिससे यह मेरा आत्मा मेरे आत्मा में ही मग्न होकर आनन्दरस से छकित रहे, ऐसी हम प्रवृत्ति बनायें। यह काम करने के लिए हम मनुष्य हुए हैं, पर करने क्या लगे हैं? काम क्या था और करने क्या लगे हैं? तो जब तक धर्म का शरण नहीं मिला, धर्म के मार्ग पर हम आ नहीं सके तब तक तो अज्ञानी संसारी प्राणियों की भाँति अपना जीवन समझिये। लाभ कुछ नहीं हुआ।

**समागम की स्वप्नवत् मायारूपता**—जितना जो कुछ भी यहाँ नजर आ रहा है यह सब स्वप्न की तरह है, जैसे स्वप्न में स्वप्न देखने वाले को कुछ भी पता नहीं है, मगर वह स्वप्न देख रहा है और स्वप्न में इसे सब चीजें सच-सच लग रही हैं। स्वप्न की ये बातें सच नहीं हैं। यह कब विदित होता है जब स्वप्न भंग हो जाता है, जब नींद खुलती है तब मालूम पड़ता है कि ओह ! यह सब कोरा स्वप्न था। इसी तरह ये सब चीजें इस मोही जीव को मोहनींद में सच-सच लग रही हैं, है तो यह मेरा ही बढ़िया मकान, मेरे ही तो हैं ये पुत्र, स्त्री वगैरह। मेरा ही तो देखो कितना नाम और यश दुनिया में चल रहा है, सारी बातें इसे बहुत-बहुत सच लग रही हैं, लेकिन है कुछ नहीं यह बात कब विदित होती है? जब मोह की नींद टूटे, ज्ञान का प्रकाश मिले तब यह विदित होता है—ओह ! मेरा कुछ भी तो नहीं था। जैसे आप लोगों का जो-जो समागम विघट गया है अब तक भी कौनसा घर बचा जिस घर में मृत्यु न हुई हो किसी की, तो अपने ही कुटुम्ब में जिन-जिन प्रियजनों की मृत्यु हो गयी है उनके विषय में कुछ-कुछ यह ख्याल बनता है कि मेरा कुछ नहीं था, यह सब एक स्वप्न की चीज थी, तो जैसे बीती हुई बातों में कुछ-कुछ इतना अंदाजा बनने लगता है कि कुछ न था, वह सब स्वप्न की जैसी बात थी, ऐसे ही जिनका समागम आज मिला हुआ है उनके बारे में इतनी दृष्टि बन जाय कि ये भी मेरे कुछ नहीं हैं। यह सब केवल कल्पनाओं से मान लिया गया है स्वप्नवत्। यह सब ही स्वप्नवत्, मालूम किया जाने लगे तो अभी भी देख लो संसार शरीर भोगों से वैराग्य हो सकेगा और हम धर्मधारण की ओर लग सकेंगे।

**धर्म के बिना शरण्यता का अभाव**—यह जगत कठिन है, क्लेशमय है। इस संसार में हम आपकी रक्षा करने वाला सिर्फ धर्म है, और किसी का सहारा तकना सब व्यर्थ की बात हैं। अमुक हमारा बड़ा मित्र है। अरे कषाय से कषाय मिल गयी तो उसे मित्र मान लिया। थोड़ी सी बात प्रतिकूल हो जाय तो वह ही मित्र पूरा बदल सकता है और मित्रता के बजाय वह शत्रुता अंगीकार कर सकता है। किसको मित्र मानते हो? किसको शत्रु मानते हो। आज जिससे आपकी कषाय मिल नहीं रही है और जिसको आप शत्रु समझ रहे हैं, कोई घटना होने पर कहो एकदम चित्त बदल जाय और वह आपका सब मित्रों से भी भला निष्कपट हार्दिक मित्र बन जाय। तो दुनिया में शत्रु भी कौन है, ये सब जीवों के अपने-अपने परिणामन हैं। इन परिणामनों में अपना कोई निर्णय न बनायें, इन सबके ज्ञाताद्रष्टा रहें। किसका शरण गहते हो इस लोक में? जिसे सोचते हैं कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी आज्ञाकारिणी स्त्री है या मेरा यह निकट सम्बन्धी है, ये कोई मेरे विपरीत हो ही

नहीं सकते, वे ही के वे ही कोई अचानक प्रतिकूल घटना घटने पर ऐसे प्रतिकूल हो जायेंगे जिसे अपने कहने लगते कि इससे तो कोई शत्रु ही भला था, किसका शरण आप गहते हैं?

**धर्म की वास्तविक शरण्यता**—शरण तो भैया एक धर्म का ही सत्य है, जो धर्म कभी भी छल नहीं करता। किसी भी समय आपको कोई भी धोखा नहीं दे सकता। धर्म का परिणाम है तो वहाँ नियम से शान्ति है। यदि चित्त में अशान्ति है तो समझो कि हम धर्म से विमुख हो रहे हैं इसीलिए अशान्त हैं। बाहरी उपद्रवों से अशान्ति नहीं हुआ करती, किन्तु खुद के हृदय की कल्पनाओं से अशान्ति बनती हैं। यदि बाहरी घटनाओं से अशान्ति हुआ करती होती तो सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार आदि बड़े-बड़े सुकुमार समृद्ध महापुरुषों को कैसे-कैसे उपद्रव तिर्यञ्चों ने, मनुष्यों ने किया। गजकुमार के सिर पर गजकुमार के ही स्वसुर ने मिट्टी की पाट बाँधकर कोयला जलाया। सुकौशल की माता ही सिंहनी बनकर सुकौशल को भक्षण करने लगी थी। सुकुमाल की भावज ही स्यालिनी के रूप में आकर सुकुमाल को विदीर्ण करने लगी थी। ऐसे उपद्रवों से भी उन्होंने अपना स्वरूप सँभाला, अपने धर्म की रक्षा की, बाहरी विकल्पों में न पड़े तो उनका कल्याण हुआ। तो दूसरों का क्या बर्ताव है, क्या प्रतिकूलता है, क्या परिणति है, उससे अशान्ति नहीं मिलती, खुद में कल्पनाएँ जगें उससे अशान्ति मिलती है। तो अपनी अशान्ति मेटने के लिए बाहर में उद्यम करना है? अपने अंतरंग में उद्यम करना है। वह उद्यम है धर्म। धर्म का शरण गहो, नियम से शान्ति होगी।

**धर्म में शान्ति का स्वरूप**—धर्म वहीं होता है जहाँ हृदय में दया बसी रहती है। दया से जो भरपूर है हरा-भरा है ऐसा मनुष्य अपने में कभी अशान्ति का अनुभव नहीं करता। यह मैं आत्मा तो अपने स्वरूप में ऐसा ही एकाकी हूँ स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ। मेरे इस आत्मा को कौनसी मुसीबत है? मेरा ज्ञानानन्द स्वरूप है, मैं सब तरह से समृद्ध हूँ, अधूरा नहीं हूँ, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अपने आपके सत् रूप हूँ। मुझमें कोई कमी नहीं, ऐसी अपने आपके स्वरूप की दृष्टि जब नहीं रहती और बाहर इन जड़ पदार्थों में दृष्टि फँसा करती है तब इस जीव को अशान्ति उत्पन्न होती है। इस वेदना की रक्षा करने में समर्थ एक धर्म ही है। इस धर्म के द्वारा लोकपवित्रता होती है। जहाँ धर्मात्माजन निवास करते हैं वह क्षेत्र पवित्र हो जाता है। जहाँ से अनन्त चतुष्टसम्पन्न अरहंत भगवान का विहार हो जाता है वह क्षेत्र पवित्र हो जाता है। धर्म की ही कृपा से संसार से उद्धार होता है। अनेक पापों में व्यसनों में पड़े हुए इस मलिन जीव का उद्धार क्या पाप करेगा? मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम इन 6 बैरियों से सारा यह जीवलोक आक्रान्त है, पीड़ित है। इन मलीमस, विकार पीड़ितों का उद्धार क्या कोई विकार करेगा? धर्म करेगा।

**धर्म के प्रताप से संकटों का विनाश**—अपना जो एक विशुद्ध स्वरूप है अर्थात्, अपने आपकी सत्ता के कारण जो कुछ मेरे में तत्त्व पाया जाता है उस तत्त्व की दृष्टि करें, उसकी ओर अपना झुकाव बनायें, उसकी ही आस्था रखें, उसमें लीन होने का यत्न करें, ऐसा करना ही एकमात्र अपना कर्तव्य समझें तो इस

धर्मपुरुषार्थ के प्रताप से मोक्ष का मार्ग मिलेगा, संसार के संकटों से छूटने का रास्ता मिलेगा और अपनी रफ्तार वैसी ही बेढंगी बनी रही जो अब तक चली आयी है तो उस रफ्तार में रहने पर हम आपका मनुष्य होना न होना सब बराबर है। कर्तव्य है अपना कि धर्म का शरण गहें। धर्मरूपी कल्पवृक्ष समस्त संकटों को दूर कर देगा। उस धर्म रूप कल्पवृक्ष को नमस्कार हो।

## श्लोक-200

दशलक्षयुतः सोऽयं जिनेर्धर्मः प्रकीर्तितः।

यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति यमिनः शिवम्॥200॥

**कल्याणकारिणी धर्मजिज्ञासा**—इस जगत को पवित्र करने वाला और जगत का उद्धार करने वाला एक धर्म ही है, जिस धर्म का अंशमात्र भी सेवन करके योगीश्वर शिव का अर्थात् कल्याण का अनुभव करते हैं। धर्म के अंशमात्र भी सेवन करने की बात यों कही गई हालांकि अंशमात्र सेवन से मुक्ति नहीं मिलती लेकिन जो अंशमात्र भी सेवन करे उसके धर्म की परिपूर्णता हो जाती है और वह निर्वाण सुख को प्राप्त करता है। वह धर्म क्या है जिस धर्म का सेवन करके, धर्म की उपासना करके जीव संसार के संकटों से सदा को छूट जाता है। यह बात सब जीवों के लिये कही जा रही है। सब जीवों की भांति हम भी जीव हैं हमें शान्ति चाहिये। शान्ति का क्या उपाय है? उस पर हम चलकर शान्ति प्राप्त करेंगे ऐसा चित्त में संकल्प होना चाहिए।

**वस्तुस्वभावरूप धर्म व उसका पालन**—पदार्थ सब अपने स्वरूप से अपनी जातिरूप हैं। हम आप सब जो शरीर के भेद से भिन्न-शरीर में पड़े हुए हैं सबका स्वरूप एक है, वह स्वरूप क्या है? ज्ञान ! सब जीवों में ज्ञानस्वरूप मौजूद है। ज्ञान बिना कोई नहीं है। ज्ञान अपना स्वरूप है और यह ज्ञानमय मैं पदार्थ हूँ। इस मुझ ज्ञानमय पदार्थ को शान्ति चाहिए और शान्ति के उपाय पर यत्न करना चाहिए। इतना ही मात्र अपने साथ रिश्ता समझें। जिसे कल्याण करना हो वह जब कल्याण के लिए अग्रसर होता है तो उसको अपने आपमें एकरूपता का अनुभव करना चाहिए। शरीर के भेद से जो समाज में भेद पड़ गए हैं उन भेदों पर दृष्टि रखकर धर्म पाया नहीं जा सकता। धर्म तो जीव का निज स्वरूप है। जब इस जीव को नानारूप अनुभव करने लगे कोई तो धर्म का परिचय नहीं मिल सकता। इससे इन पर्यायों के संस्कारों को छोड़कर धर्म की बात सुननी चाहिए। मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक कुल का हूँ, अमुक वातावरण का हूँ, ऐसा अपने आपमें विश्वास यदि बना हो तो धर्म का स्वरूप हृदय में आ नहीं सकता। इस कारण इन सब क्षोभों को विकल्पों को छोड़कर अपने आपको ऐसा देखने लगे कि मैं तो जीव हूँ। और इस मुझ जीव को शान्ति चाहिए। ऐसा अपने आपको सही रूप में एक रूप समझकर धर्म की बात सुनी जाय तो अवश्य सफलता मिलेगी।

**जीव का धर्म और शरण्य**—इस जीव को केवल धर्म की शरण है। वह धर्म क्या है उसको सही रूप में तो चूँकि वह अभेद है अतः वचनों से नहीं बताया जा सकता। फिर भी उसकी समझ के लिए कुछ व्यवहार कथन का आश्रय लेकर समझना है। धर्म तो प्रत्येक पदार्थ के साथ लगा हुआ है क्योंकि पदार्थ के स्वभाव का नाम धर्म है। हम आप जीव हैं और इसका स्वभाव है ज्ञान, शुद्ध जानना। रागद्वेष के लपेट में धर्म नहीं है। क्योंकि हम आपका वह स्वभाव नहीं है। धर्म वह होता है पदार्थ का जो उस पदार्थ में सदा रहे। जो कभी रहे, कभी न रहे वह पदार्थ का स्वभाव नहीं और धर्म भी नहीं है। जैसे जीव में क्रोध कभी रहता, कभी नहीं रहता सो यह क्रोध जीव का धर्म नहीं है। घमंड भी कभी रहता, कभी नहीं रहता, वह भी धर्म नहीं है। मायाचार और लोभ भी इस जीव में कभी रहता कभी नहीं रहता, इसलिए छलकपट करना, लोभ करना भी धर्म नहीं है। कषाय करे तब भी कुछ न कुछ ज्ञान चलता ही है, न करे तब भी ज्ञान है। बेहोश भी पड़ जाय तब भी अन्तर में ज्ञान है, ज्ञानी रहे वहाँ भी ज्ञान है, मूर्ख है उसके भी ज्ञान है। ज्ञान के बिना जीव कभी नहीं रहता, इसलिए जीव का स्वरूप ज्ञान है।

**धर्मपालन**—जब यह कहा जाय कि धर्म करो तो उसका अर्थ यह लगाओ कि सिर्फ ज्ञान करें, रागद्वेष न करें। धर्मपालन करें इसका अर्थ इतना है कि मोह रागद्वेष न करें और केवल हम जाननहार बनें। यह धर्म की निष्पक्ष व्याख्या है। इसमें न मजहब का रंग है, न रागद्वेष का रंग है, युक्ति और अनुभव से भी देख लो जब आप रागद्वेष न करेंगे और सिर्फ जाननहार रहेंगे तो आपको शान्ति मिलती है या नहीं। प्रयोग करके अनुभव करके देख लो, जब कभी आप किसी रागद्वेषमोह में पड़ेंगे, अनेक विकल्प उठायेंगे तो उन कल्पनाओं से आप दुःखी रहा करेंगे। हम आप प्रभु को पूजते हैं तो क्यों पूजते हैं, उनमें क्या विशेषता है कि हम तो पूजें और वे पुजें? अरे उनमें ये रागद्वेष, मोह नहीं रहे, वे तीन लोक, तीन काल के मात्र जाननहार हैं अर्थात् वीतराग सर्वज्ञदेव के ऐसे शुद्धस्वरूप की जब हम आराधना करते हैं, पूजा करते हैं तो हम लोगों को स्वयमेव ज्ञानोत्साह प्राप्त होता है।

**दशलक्षणमय धर्म**—धर्म का स्वरूप एक है, जीव का स्वरूप एक है, आनन्द का स्वरूप एक है, फिर भी विश्लेषण करके इस धर्म का 10 रूपों में यहाँ वर्णन किया जा रहा है। उस धर्म के 10 अंग हैं—क्षमा, नम्रता, सरलता और निर्लोभता, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन 10 धर्मरूप वृत्ति हो तो इस जीव को न क्लेश रहेगा और न जन्म-जन्म भटकना पड़ेगा।

**क्षमाधर्म- धर्म का प्रथम अंग है क्षमा**—क्रोध न करना। क्रोध से कितनी हानियाँ होती हैं उन्हें सब लोग जानते हैं। क्रोध करने से फिर क्रोध ही क्रोध बढ़ता है और क्रोध रहने से बुद्धि सही काम नहीं करती। जैसा चाहे अटपट जो चित्त में आये वैसा ही करने लगते हैं। दूसरों से लड़ें, झगड़ें, दूसरों को मार दें। न मार सकें तो जो सिपाही हैं पड़ोसी हैं वे सब इसे दंड देते हैं। क्रोध से हानि ही हानि मिलेगी, इससे लाभ कुछ नहीं

है। बड़े पुरुषों को देखा होगा उनके हृदय में क्रोध कम रहता है। तभी ही बहुत कठिन प्रतिकूलता हो, पर उन्हें क्रोध आता है तो वह भी दूसरों के हितरूप आता है। क्रोध से यह जीव जलता है, संताप सहता है और क्षमाभाव आ जाय तो जीव को शान्ति प्राप्त होती है।

**क्षमा वीरस्य भूषणम्**—क्षमारूप प्रवृत्ति करने में बहुत बल की आवश्यकता है। जो शरीर से कमजोर है, जो दिल के कमजोर हैं, जो ज्ञानहीन हैं ऐसे पुरुष के क्रोध जल्दी उमड़ता है। क्रोध न उत्पन्न हो उसके लिए बलिष्ठता चाहिए और देखते भी तो रहते हैं कि बली पुरुष क्षमाभाव धारण करते हैं। क्षमा वीर का भूषण बताया गया है। यह क्षमा एक धर्म का अंग है। कोई पुरुष कमजोर है और वह अपराध करता है तो उसके अपराध को क्षमा कर दें। अपने से बलिष्ठ हो कोई तो उसका यह बिगाड़ेगा क्या, वहाँ जरूर गम खाया जाता है। वह वास्तव में क्षमा नहीं है। चित्त में दूसरों के बिगाड़ करने का भाव उत्पन्न न हो उसे क्षमा कहते हैं। क्षमाशील पुरुष के पास अनेक लोग निर्भयता से बैठते हैं और उसकी मण्डली में निर्भयता से रहते हैं। क्षमाशील पुरुष किसी से बदला लेने का भाव नहीं रखता, कोई उसे हैरान भी नहीं करता। और अध्यात्म में यदि क्षमाभाव उत्पन्न हो तो वहाँ वास्तविक आनन्द बरसता है। क्षमा धर्म का अंग है। अपना जीवन क्षमा से भरा हुआ होना चाहिए। क्रोध की प्रवृत्ति करने में तत्त्व कुछ नहीं निकलता। क्रोध करना अधर्म है और क्षमा करना धर्म है।

**मार्दवधर्म**—धर्म का दूसरा अंग है नम्रता। जो अज्ञानी जन हैं वे बाह्य वस्तुओं में मोह रखा करते हैं। अपने शरीर को यह मैं हूँ इस प्रकार का विश्वास रखा करते हैं, उन्हें ही घमण्ड उत्पन्न होता है जरा-जरासी बात पर। मैं इतना श्रेष्ठ हूँ, मुझे लोग यों कह देते हैं, मेरे साथ ऐसा बर्ताव है, मेरा कहीं कुछ पूछ नहीं है कुछ भी कल्पनाएँ उठाते हैं, शरीर में आत्मबुद्धि करने वाले पुरुष और अपना अभिमान प्रकट करते हैं, लेकिन दुनिया अभिमान करने वाले को मान दे ही ऐसा नियम तो नहीं है। यह अभिमानी पुरुष जैसा चाहता है लोक में वैसी बात मिलती नहीं है तो यह चित्त में दुःखी होता है। अभिमान करना अधर्म है और नम्रता करना धर्म है। नम्र पुरुष लोगों की दृष्टि में कितना आदेय रहता है। इज्जत का, आदर का पात्र रहता है। नम्र पुरुष स्वयं सुखी रहता है और उसके वातावरण में आये हुए और लोग भी सुखी रहते हैं किन्तु घमंडी खुद अपने आपमें दुःखी रहता है और उसके निकट जो उसके मित्र हों वे भी दुःखी हो जाया करते हैं। घमंडी पुरुष को कोई मित्र बनाकर रखे तो उससे शान्ति की आशा नहीं रखी जा सकती है। घमंडी पुरुष को अपने घमंड की सिद्धि के लिए यदि मित्र का अपमान भी करना पड़े तो वह इसके लिए भी तैयार रहता है। मान करना अधर्म है। नम्रता से रहना, विनयपूर्वक रहना यह धर्म है। जो दूसरों को अपना कुछ समझेगा तो दूसरे भी इसे अपना समझेंगे।

**गर्वित होने का अनवकाश—**दुनिया में सारभूत बात क्या है जिसके लिए घमंड बगराया जाय? न यह खुद रहेगा, न दिखने वाले ये लोग रहेंगे। यह संसार आने-जाने वालों की सराय है। कोई यहाँ आज है कल नहीं है, जो कल तक न था वह आज आ गया। यहाँ सारभूत बात कुछ न मिलेगी। फिर किसके लिए अभिमान करते हों? घमंड करने लायक कोई बात हो तो चलो घमंड करने से कुछ सिद्धि तो मिली, लेकिन यह घमंड का भाव इतना बुरा है और इतना निःसार है कि इससे कुछ सिद्धि भी नहीं है, किन्तु अभिमानी पुरुष इसमें भ्रष्ट रहा करता है। कभी-कभी क्रोध से भी कोई खुदगर्जी की बात सिद्ध हो सकती है। कभी माया लोभ से भी बात बन सकती है। पर मान करने से कौनसी बात बनती है? बनती हो तो बिगड़ जाय। मान करना अधर्म है, नम्रता करना धर्म है। विनयपूर्वक रहना धर्म है।

**मार्दव और ज्ञान का निकट सम्बन्ध—**भैया ! धर्म तो है ज्ञान, और ज्ञान प्रकट होता है उस पुरुष के जो नम्र होता है, विनयशील होता है। नीति में बताया है कि विनय विद्या को प्रदान करती है, और खास करके धर्मसंबंधी विद्या तो विनय बिना नहीं आ सकती। लौकिक विद्या तक भी विनय बिना नहीं आती। कोई छोटा भी किसी कला का मास्टर हो उससे कोई धनी पुरुष सीखे, उसे पैसा भी बहुत देता हो, पर बिना विनय के वह विद्या भी उसे आ नहीं सकती, फिर धर्म की बात ही अनोखी है, तो वह विनय बिना आ ही नहीं सकती, बल्कि यह समझो कि पढ़ाता भी कोई नहीं है, शिष्य अपने विनयभाव के कारण गुरु से बात खींच लेते हैं, एक कवि ने इस विषय में बड़ा प्रकाश डाला है, पढ़ाने वाला कौन? शिष्य स्वयं अपने हार्दिक विनय से इस प्रकार वह समर्थ बन जाता है कि गुरु की विद्या को खींच लेता है, तो ज्ञान की बात विनय बिना नहीं आ सकती, और ज्ञान ही धर्म है, तो धर्म का एक अंग है नम्रता, विनय। हमारे जीवन में नम्रता रहें, विनय रहे तो हम धर्म के पात्र हैं, सुख शान्ति पा सकते हैं।

**आत्मतत्व का नाता मानने का प्रभाव—**मूल बात तो यह है कि जिस पर हम आप सबको बहुत-बहुत ध्यान देना चाहिए। वह बात यह है कि जब आप धर्मपालन की बात मन में लायें तो सिर्फ अपने को मैं जीव हूँ, इतना ही देखें, मैं इस जाति का, इस कुल का, इस मजहब का, इस वातावरण का हूँ इस तरह न देखें। यदि वास्तविक मायने में धर्म चाहिए और धर्म के फल में शान्ति चाहिए तो अपनी सिर्फ यह नीति लायें कि मैं जीव हूँ, मुझे धर्म चाहिए, मुझे धर्म खोजना है। मेरा धर्म क्या है और उस धर्म का पालन करके शान्त होना है, यह श्रद्धा और दिशा लायें तो धर्म का मार्ग अवश्य मिलेगा। यहाँ धर्म के नाम पर कुछ से कुछ बन जाने की चेष्टा का पक्ष क्यों बन जाता है, उससे लाभ नहीं है। मुझे कोई जाने या न जाने, मैं यदि अपने आपमें धर्म कर लूँ तो मेरा बेड़ा पार हो जायगा और जिसका बेड़ा पार होगा उस ही पुरुष के निमित्त से दूसरे का भी भला होगा। इससे अपने को केवल जीव का नाता मानकर, जीव का धर्म क्या है? उसे मुझे करना है, ऐसी दृष्टि बनायें।

**आर्जव धर्म**—धर्म के अंगों में तीसरा धर्म बताया है सरलता। जो मन में हो वह वचन से कहे, वैसा ही काय से परिणमन करे। मन में कुछ और हो, वचन में कुछ और हो और काय से और चेष्टा करे यही मायाचार है। मायाचार अधर्म है। किसके लिए मायाचार किया जा रहा है? इतनी हिम्मत बनना चाहिए कि चाहे जो उपद्रव आते हैं वे सब आयें किन्तु हम अपना धर्म न छोड़ेंगे। धर्म क्या? सरलता। मायाचार न रखना। जो बात सही है वैसा ही करना सरलता धर्म है।

**वैतृष्य धर्म**—चौथा अंग बताया है निर्लोभता, उदार परिणाम होना। अब बतलाओ प्रायः समर्थ तो सब हैं किन्तु लोभ का रंग इतना चढ़ा हो कि पास के लोग भूखे दुःखी रोगी रहते हों और समर्थ होने पर भी उनका दुःख दूर न करें, कुछ अपने लोभ का त्याग न करें तो बतलाओ वहाँ धर्म की बात कैसे समा सकती है? यह सोचना भूल है कि हम पैसे को बनाये रहें, खर्च न करें, रखे रहें तो यह पैसा जुड़ जायगा। वह तो पुण्य से जुड़ता है। जैसे कुवें में से कितना ही पानी निकालते जाओ, कुवां पानी की संचय करके नहीं रखता, कुवें में स्रोतों से पानी आता रहता है ऐसा ही वैभव समृद्धि की प्राप्ति का उपाय है पुण्य, धर्म। जिन्हें सांसारिक सुख भी चाहिए उनका भी कर्तव्य है कि वे धर्म का पालन करें। धर्म का यह अंग है निर्लोभता, पवित्र मन हो जाना। लोभ करना अधर्म है और लोभ न रहे, हृदय उदार रहे वह धर्म है।

**धर्मस्वरूप के अवगम का स्वयंसाधन**—भैया ! जो धर्म करेगा वह नियम से शान्ति पायेगा। मैं जीव हूँ, मुझे अपना धर्म चाहिए, इस भावना को रखकर जीवन में बढ़ें और सचरूप से धर्म की खोज करें तो धर्म अवश्य मिलेगा। हम आप ज्ञानी तो है ही। ज्ञान स्वरूप हैं यदि ऐसा सत्य आग्रह कर लें कि मुझे बहकाने वाले दुनिया में बहुत लोग हैं। कोई कहता है इस तरह बढ़ो, इस तरह रहो, इस तरह हाथ चलाओ, वहाँ धर्म है, कोई बलि में धर्म कहता, कोई किसी में धर्म कहता। बहकाने वाले साधुजन भी बहुत हैं। हम किसको अपना धर्म मानें, कहाँ हम अपना निर्णय बनायें? यदि ऐसा कुछ सन्देह हो, उलझन हो और जो कि प्रायः जगत में हो रहे हैं तो आप केवल एक उपाय करें। मुझे किसी की नहीं सुनना है। मैं स्वयं ज्ञानरूप हूँ ना, तो अपने आप मुझमें वह प्रकाश आयेगा जो यह बतायेगा कि धर्म यह है।

**धर्मस्वरूप के स्वयंसमाधान के लिये पात्रता**—भैया ! अपने धर्मस्वरूप का समाधान स्वयं मिले, इतने बड़े काम कि लिए स्वच्छ ईमानदारी का सत्य का ऐसा आग्रह करना होगा कि कुछ भी विकल्प चित्त में न रहे। यह तक भी विकल्प न रहे कि मैं अमुक हूँ, अमुक नाम का हूँ, आराम से अपने आपमें झुककर यों आग्रह करके बैठ जाय कि मुझे प्रकाश चाहिए और वह भी अपने आपमें से चाहिए और हमें समझना है कि मैं कौन हूँ, किस स्वरूप का हूँ और मेरा कर्तव्य क्या, मेरा धर्म क्या, मेरी चाल क्या? इस तरह का अपने आपसे उत्तर लेने का हठ मानने में ठहर जाओ तो आपको उत्तर मिलेगा। लेकिन उसमें यदि कोई पक्ष रागद्वेष कल्पनाएँ विकल्प बनायेगा तो उत्तर न मिलेगा। हम आपका कर्तव्य है कि क्रोध, मान, माया, लोभ—

इन चार कषायों को दूर करें, क्षमा, नम्रता, सरलता और उदारता इन चार गुणों को प्रकट करें, इन चार गुणों में वृद्धि करें तो हम आपको बहुत शान्ति प्राप्त होगी। सबका धर्म ही रक्षक है, दुनिया में अन्य कोई रक्षक नहीं है, ऐसा अपना निर्णय बनायें और धर्म की ओर सच्चे दिल से लगे तो इसमें शान्ति प्राप्त होगी।

**धर्मप्रयोगपद्धति का दर्शन और उद्देश्य**—धर्म के प्रकरण में सर्वप्रथम आवश्यकता होती है—चारों प्रकार की कषायें न हों। इसके बिना आचरण का प्रारम्भ ही नहीं माना गया है जो मोक्षमार्ग में साधक हो। 10 प्रकार के धर्मों में 4 प्रकार के अंग तो बता दिये गए हैं क्रोध न करना, घमंड न करना, मायाचार न करना और लोभ न करना। अब इसके बाद जो 6 प्रकार के अंग शेष रहे हैं उसकी प्रक्रिया देखिये कितनी प्रयोगात्मक है? इस मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है ब्रह्मचर्य। ब्रह्म मायने आत्मा उसमें चर्य मायने मग्न हो जाना। आत्मा में मग्न हो जाना यही है धर्म का उत्कृष्ट रूप। धर्म किसलिए किया जाता है? आत्मा आत्मा में मग्न हो जाय, किसी भी प्रकार की कल्पनाएँ न उठें, रागद्वेष, मोह ममता संकल्प विकल्प चिन्ता शोक किसी भी प्रकार के विकल्प न रहें और यह आत्मा में निर्विकल्प मग्न हो जाय, यही है धर्म करने का असली प्रयोजन। इस प्रयोजन को जोड़कर यदि अन्य प्रयोजन मन में आते हों, इस दुनिया में अपना मजहब फैलाना, लोगों को अपने धर्म की बात बताना, अपने धर्म का प्रचार करना लोग समझ जायें कि यह समाज बहुत उत्कृष्ट है, अथवा लोक में यश मिलता है धर्म की बात करने से। सो इस उपाय से यश मिले अथवा विषय कषाय के प्रयोजन सिद्ध होते हैं धर्म के करने से, सुख समृद्धियाँ होती हैं, स्वर्ग मिलता है, पुण्य बँधता है आदि अन्य प्रयोजन रखकर धर्मपालन करे कोई तो वह धर्मपालन नहीं है। जिसने अपने उद्देश्य पहिले बनाये ही नहीं हैं उसको धर्म की दिशा नहीं मिलती। धर्म करने का मूल प्रयोजन है यह ब्रह्मचर्य। आत्मा आत्मा में मग्न हो जाये। तो इस ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए हमें क्या करना पड़ता है? वह ढंग बताया है 10 अंगों में।

**सत्यधर्म का विकास**—पहिले तो आत्मा की सफाई करें। कषायों से मलिन यह आत्मा कषायों से दबकर अपने प्रभु का घात कर रहा है। और प्रभु में मग्न नहीं हो पा रहा है। अतः पहिले कषायों का अभाव करना गुस्सा न रहे, अभिमान की बात न आये, मायाचार न रहे, किसी की परवस्तु का लोभ न रहे। जब ये चारों कषायें नहीं रहती हैं तब आत्मा में सत्य प्रकट होता है। जब तक कषायें है तब तक यह आत्मा असत्य है, गलत है। स्वच्छता होने पर ही समीचीनता प्रकट होती है। तो चारों कषायें जब नहीं रहीं तब इसमें 5 वाँ अन्तः सत्य धर्म प्रकट हुआ। अब सफाई आयी आत्मा में। कषायों के रहते हुए आत्मा में सच्चाई नहीं रहती। मोटे रूप में भी देखिये तो सत्यपालन की बात तब तक नहीं बन पाती है जब तक कषायें मंद न हों। जिसे गुस्से की प्रकृति पडी है वह गुस्से में कई बार झूठ बोल सकता है। अभिमानी लोग झूठ बोला ही करते हैं। मायाचार में तो झूठमूठ का ही काम है। लोभकषाय के वश होकर लोग झूठ बोलते ही हैं। तो जहाँ कषाय जग रही है वहाँ सच्चाई कैसे हो सकती है और जब तक सच्चाई नहीं आ सकती है। तब तक धर्म का

पालन सही ढंग से हो ही नहीं सकता। इसी कारण धर्म के प्रकरण में क्षमा, नम्रता, सरलता और उदारता के पश्चात् सत्य का क्रम दिया है।

**संयमधर्म**—जब आत्मा सत्य हो गया तो उसका ज्ञान संयत बन सकता है। सच्चाई के बिना संयम नहीं पल सकता। जैसे कोई एक आक्सी कांच होता है जिसे धूप में रख दो और इस ढंग से सीधा करके रखो कि किरणों का संयम हो जाय, किरणें केन्द्रित हो जायें तो उसके नीचे रहने वाली वस्तु जलती रहती है। यदि वह कांच किसी लेप से मलिन है, मिट्टी लगी है, कूड़ा, राख लगी है तो उस कांच से तो चीज जलने का नाम नहीं बन सकता। इससे पहिले कांच को साफ किया जाय। जब कांच में समीचीनता प्रकट हो गयी तब किरणों का संयम बन सकता है, ऐसे ही आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ ये मैल कूड़ा कचरा लगे हुए हों तब तक आत्मा में वह प्रताप नहीं आ सकता कि वह कर्मों को भस्म कर सके और ब्रह्मचर्य की साधना बना सके। इस कारण सबसे पहिले इन कषायों के कूड़े को हटाया जाता है। कषायें हटने से जब आत्मा में सच्चाई प्रकट हुई तब इसमें वह सामर्थ्य आ गयी कि अपने ज्ञान किरणों को केन्द्रित करके एक आत्मस्वरूप संयत कर सकता है। यह हुआ संयम।

**तप धर्म**—संयम धर्म के बाद आत्मा में ऐसा प्रताप फैलता है कि इसमें तप उत्पन्न होता है, जैसे उस कागज में सूर्य की किरणें केन्द्रित हो जाने से वहाँ एक ऐसा प्रताप उत्पन्न होता है कि ताप उत्पन्न होता है। तो इस तरह यह अध्यात्मसंयम बनने से आत्मा में एक प्रतपन होता है जिसे कहो चैतन्यप्रताप। शारीरिक तप की बात नहीं कह रहे किन्तु यह आत्मा अपने आत्मा में ही तप जाय ऐसे तप की बात कह रहे हैं। यों अब इस प्रयोगविधि में उत्तम तप धर्म का अंग बना।

**त्यागधर्म**—जब चैतन्य प्रताप, ऐसा तप उत्पन्न हुआ तो आत्मा में जो भी त्यागने योग्य बात है, बेकार की बात है वह सब दूर होने लगती है अर्थात् विकारों का त्याग होने लगता है। जैसे कि उस कागज में सूर्य किरणों के केन्द्रित होने से जो एक प्रताप, ताप उत्पन्न होता है उसके कारण नीचे रहने वाले रुई आदिक में एक त्याग होने लगता है। भार की चीज जलने लगती है, हट जाती है। इसी प्रकार ज्ञानसूर्य की किरणों के आत्मा में संयत होने पर हुए प्रतपन के प्रताप विकार जलने लगते हैं।

जब त्याग उत्पन्न होता है तो त्याग का यह फल है कि वहाँ फिर कुछ न रहे। जब जल गई वह रुई तब सब निर्भार हो गया, कुछ नहीं रहा। कुछ न रहने का ही तो नाम आकिञ्चन्य है। यह आत्मा किसी पद्धति से मलिनताओं से हटकर अपने आत्मा में मग्न होता है उसकी पद्धति इन दश धर्मों में बतायी गई है।

**धर्माङ्गों के क्रमविन्यास का समर्थन**—महापुरुष जिस बात को बताते हैं, उसमें जो क्रम रखते हैं उस क्रम में भी मर्म होता है। यों तो अट्टसट्ट भी क्रम रख सकते थे। रखें चाहे 10 ही नाम, पर आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, संयम, मार्दव याने जिस चाहे क्रम से बोल सकते थे, पर महापुरुष जो कुछ भी बोलते हैं

उनकी बुद्धि इतनी स्पष्ट है कि वे बिना यत्न किए, बिना जोर लगाये ऐसा बोलेंगे कि जिस क्रम में अनेक धर्म भरे हुए होते हैं। एक उदाहरण के लिए सूत्रजी का एक स्थल देखो—स्थावरों के 5 भेद किए हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। इस क्रम को त्यागकर अगर और ढंग का क्रम रखें तो कई शिक्षाओं का लोप हो जायेगा। सबसे पहिले तो पृथ्वी नाम रखा वह सबका आधार है। उस पर ही सब बातें चलती हैं और उसके बाद जल है जो इस पृथ्वी का निकट सम्बन्धी है और इस पृथ्वी और जल के मूल उपादान से ये सब बातें प्रकट हो गई हैं जो जीवों के जीवन का आधार है। इसमें खास जानने की बात यह है कि अग्नि बहुत भयंकर चीज है, उपकार की भी चीज है और लग जाये तो सब स्वाहा हो जाया। उस अग्नि को हम किस नम्बर पर बोलें, इसका पहिले निर्णय करें। अगर पृथ्वी के बाद अग्नि बोलते हैं, पृथ्वी पर अग्नि धरते हैं तो पृथ्वी तो जल जायेगी। बोलने से पृथ्वी जलती नहीं है, पर क्रम में एक कल्पना है। मान लो वायु के बाद रख दें तो वहाँ वनस्पति साथ में रखी हुई है वनस्पति जल जायेगी। कहाँ धरें? यदि जल और वायु के बीच में आग धर दें तो इससे पृथ्वी भी बच गई और वनस्पति भी बच गई। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार का सही मेल हो जाने से वनस्पति का उत्पाद होता है। जितनी गर्मी चाहिए गर्मी न मिले, हवा चाहिए हवा न मिले, पानी चाहिए पानी न मिले तो वृक्ष कहाँ से आयें, फल कहाँ से आयें? झट बोल तो दिया पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, पर उस क्रम में लौकिक मर्म भी पड़ा हुआ है।

**धर्माङ्गों के क्रमविन्यास के समर्थन में रत्नत्रय के क्रमविन्यास का दृष्टान्त—**रत्नत्रय तीन होते हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यदि और तरह से क्रम बोल दें तो उसमें सामञ्जस्य नहीं बैठता। इस क्रम का तो यह अर्थ है कि सर्वप्रथम जीव को श्रद्धान चाहिए। जिसका श्रद्धान बिगड़ा है वह आगे चल ही नहीं सकता। श्रद्धान यदि यथार्थ है तो कुछ अपराध भी हो जाय वह भी क्षम्य हो सकता है, पर श्रद्धान बिगड़ा हो तो सब कुछ बिगड़ा है। श्रद्धान् से भ्रष्ट को भ्रष्ट कहा है। आगम में यह भी बताया है कि चारित्र से भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं है। यद्यपि चारित्र से भ्रष्ट होना भी भ्रष्टता है लेकिन मोक्षमार्ग के प्रकरण में श्रद्धान् से भ्रष्ट होने वाले को भ्रष्ट कहा है अर्थात् वह अतिभ्रष्ट है। श्रद्धान्भ्रष्ट आत्मा धर्म का अधिकारी ही नहीं है। श्रद्धान् है और चारित्र में शिथिलता आ जाय तो वह श्रद्धान् पर हमला तो नहीं कर रहा है। सारी गाड़ी तो श्रद्धान् पर चलती है। श्रद्धान् से भ्रष्ट हो जाय तो फिर इसे बहुत काल तक कुयोनियों में भ्रमण करना पड़ता है। तो पहिले श्रद्धान् चाहिए। श्रद्धान् होने पर इसके ज्ञान की पूर्णता होती है। ज्ञान कितना ही हो, श्रद्धान् नहीं है तो वह न सम्यक् है, न परिपूर्ण होगा। उसके बाद सम्यक्चारित्र की पूर्णता होती है। तो यों ही समझिये कि धर्म के जो ये 10 अंग कहे हैं इनके क्रम में भी विशेषता है। इस क्रम में अब तक सत्य, संयम, तप, त्यागधर्म तक आये थे। जब आत्मा में जो विकारभाव हैं, सूक्ष्म भी विकार हैं उनका भी त्याग होने लगता है तब यह आत्मा आकिञ्चन्य बनता है।

**धर्ममार्ग का अन्तः उद्यम**—इस आत्मा का बाह्य में कहीं कुछ नहीं है। यह अपने स्वरूपमात्र है। मैं आकिञ्चन्य हूँ, कुछ भी मेरा नहीं है, मेरा मात्र मैं हूँ। श्रद्धान् में तो यह बात पहिले से ही चलती है, पर प्रयोग के रूप में यह आकिञ्चन्य त्याग के बाद प्रकट हुआ है। जो पुरुष अपने आपको परवस्तुओं से न्यारा केवल ज्ञानमात्र निरखता है उसको धर्म मिलना, शान्ति मिलना यह बहुत आसान है। धर्म की बात जब मन में लाये तो इन सब बातों को भूला दे—मैं अमुक नाम का हूँ, अमुक जाति का हूँ, अमुक कुल का हूँ, अमुक मजहब का हूँ, अमुक वातावरण का हूँ, अमुक गाँव का हूँ, सब कुछ भूला दे, केवल अपने साथ एक जीव का नाता रखे—मैं जीव हूँ, ज्ञानमय पदार्थ हूँ, मुझे धर्म चाहिए क्योंकि वर्तमान परिस्थिति हमारी अधर्म की बन रही है और उस अधर्म के संताप से तपकर हम व्याकुल हो रहे हैं। इस संसारसंताप से हम जिसके प्रसाद से दूर हो सकते हैं, वह धर्म क्या है? उसकी चर्चा चल रही है।

**प्रथम आवश्यक स्वरूपश्रद्धान्**—सर्वप्रथम तो यह जीव अपना सही श्रद्धान् बनाये, पदार्थ का सही-सही ज्ञान करे। पदार्थ सब स्वतंत्र हैं और उन पदार्थों में यह स्वरूप पड़ा हुआ है कि वह हर समय कुछ न कुछ अपनी अवस्था बनाता रहे। यह पदार्थ का स्वभाव ही है ऐसा। अपनी दशा बनाये बिना, अपने में परिवर्तन क्रिया किये बिना पदार्थ की सत्ता ही नहीं रह सकती। इससे हम बहुत-सी चिन्ताओं से और बहुत-से भ्रमों से मुक्त हो जाते हैं। कोई लोग तो इस ही में परेशान रहते हैं कि आखिर इस चीज को किसी ने बनाया कैसे? चीज बनाने की बात अभी दूर जाने दो, पहिले यह ही बताओ कि इसकी सत्ता कब से है? क्या कभी ऐसी भी कोई वस्तु आज तक बनी है कि जिसका सत्त्व तो किसी रूप में पहिले से ही नहीं और बन जाय? अगर ऐसा बन सकता है तो आप यहीं मिट्टी का सकौरा तैयार करके दिखा दें या कुछ भी चीज तैयार करके बता दें जो न हो परिणामाने वाले हैं और न रहे वह वस्तु, तो क्या उसका क्योंजी, आपके ख्याल में ही परिणामन बन्द हो जायेगा? वह वस्तु तो बदलती रहेगी पुरानी होगी, नई शकल रखेगी। तो ये पदार्थ स्वयं सत् हैं, स्वयं बनते हैं, स्वयं बिगड़ते हैं, स्वयं ही रहा करते हैं। इसी प्रकार मैं भी हूँ, यह मैं भी स्वतन्त्र होकर परिणामता रहता हूँ।

**मेरा परिचय**—मैं जैसा परिणाम करता हूँ वैसा बनता रहता हूँ, बनता हूँ बिगड़ता हूँ, फिर भी बना रहता हूँ। यह है हमारा परिचय। कोई पूछे भाई इनका परिचय बताओ यह कौन हैं? अच्छा सुनिये, इनका यह है परिचय, ये है अतएव प्रति समय बनते हैं, बिगड़ते हैं, और बने रहते हैं। और ये रहते कहाँ हैं? ये रहते हैं अपने सत्त्व में, अपने स्वरूप में, अपने प्रदेशों में रहा करते हैं। बड़ा अच्छा परिचय बता रहे हैं। और ये करते क्या हैं साहब? ये अपने भावों का परिणामन करते रहते हैं। कोई आकर पूछे जो आपके साथ आये हैं ये कौन हैं? तो बताइये बेधड़क, ये जीव असमानजातीय द्रव्यपर्याय, ये मायारूप हैं, यह मनुष्य पर्याय वाला जीव है, तो इसका परिचय यह है कि ये बनते हैं, बिगड़ते हैं और बने रहते हैं। रहते कहाँ है? अपने स्वरूप

में। करते क्या हैं? अपने भावों का परिणमन। तो सब पदार्थों का ऐसा ही परिचय है। यह स्वरूप है पदार्थ का। इससे स्वतंत्रता विदित होती है।

**परमब्रह्मचर्य की सिद्धि का यत्न**—जब तक सभी पदार्थों को हम आजाद रूप में न निरख सकें और अपने आपको भी हम आजाद के स्वरूप में न निरख सकें तब तक हम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति कैसे कर सकते हैं? ब्रह्मचर्य मायने आत्मा में मग्न होना। तो यह स्वतंत्रता हमें इस आकिञ्चन्य से विदित होती है। सभी पदार्थ अकिञ्चन हैं अर्थात् उनमें उनका ही सत्त्व है। उनमें किसी परस्वरूप का कुछ नहीं है। मैं अकिञ्चन हूँ अर्थात् मुझमें मैं ही हूँ। मुझमें मेरे से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। यों आकिञ्चन्य धर्म तक आये। इस प्रकार कषायों को दूर करके आत्मा में सच्चाई प्रकट की गयी और जब यह आत्मा सच बन गया तो इसके ज्ञानरूपी सूर्य की किरणें आत्मा में केन्द्रित की जा सकी, उससे चैतन्य में तपन पैदा हुआ, उस तपन के कारण यह बोझ यह विकार यह सूक्ष्म विकार यह भी दूर होने लगा तब इस आत्मा में आकिञ्चन्य प्रकट हुआ। आकिञ्चन्य की सिद्धि होने के बाद ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य में समस्त तरंगे विश्रान्त हैं, किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं है।

**धर्मनाम में धर्मस्वरूप का प्रकाश**—निरपेक्ष शुद्ध दशारूप धर्म जो पुरुष निभाते हैं, पालते हैं वे ही इस जग में पूज्य हैं और आनन्दमय हैं। इस पवित्र धर्म का व्याख्यान उन्होंने किया है जिन्होंने इसका प्रयोग करके खुद अपने आपमें उतारा है, उनका नाम है जिन। जिनका अर्थ है जो कर्मों को जीते। देखिये धर्म का ठीक स्वरूप यदि समझ में आ जाय तो स्वरूप वही चित्त में रहेगा, नाम कुछ ले लिया जाय। जैसे एक नाम है जैनधर्म। तो ये जैन शब्द का अर्थ क्या रहा? जो कर्मों को जीते सो जिन अर्थात् महंत पुरुष परमात्मा। उन्होंने शासन बताया है, मार्ग बताया है तो उस मार्ग का नाम है जैनधर्म, वैष्णव धर्म। विष्णु का जो धर्म है वह वैष्णव धर्म है। विष्णु का अर्थ है व्यापक। जो तीनों लोक में फैला हो उसका नाम विष्णु है। आप कुछ अनुभव से तो सोचें, ऐसा कौनसा तत्त्व है जो समस्त लोक में फैला हुआ हो? वह ज्ञान तत्त्व है। अब आप आँखों से इस ओर देखें तो आपका ज्ञान इतने में फैल गया, ऐसा लगता है कि नहीं? तो फैलने की प्रकृति ज्ञान में है यह ऐसा-ऐसा निर्वाध फैलता है कि इसको कर्मरूपी आवरण की रुकावट नहीं हो तो यह ज्ञान समस्त लोक में फैल जाता है, और इतना ही नहीं, अलोक में भी फैल जाता है। अलोक में किसी द्रव्य की गति नहीं है। कोई पदार्थ आकाश के सिवाय वहाँ नहीं है लेकिन ज्ञान की ऐसी गति है कि लोक में भी फैले और अलोक में भी फैले। अर्थात् ज्ञान में लोक भी ज्ञेय है और अलोक भी ज्ञेय है। तो विष्णु तो ज्ञान है, उस ज्ञान की जो वृत्ति है उसका नाम है वैष्णव धर्म। ज्ञान सम्बंधित विकास का नाम है वैष्णव धर्म। सनातनधर्म—सनातन का अर्थ है सीमा रहित अर्थात् अनादि से चला आया हो, अनन्त काल तक रहे। सनातन क्या चीज है? यह आत्मधर्म। समस्त नाम आत्मधर्म के हैं। आर्य मायने श्रेष्ठ। वह श्रेष्ठ धर्म क्या? आत्मधर्म। तो

जिन्होंने धर्म का स्वरूप जाना है वे लोक में प्रसिद्ध धर्म के विशेषण, धर्म के नाम को भी उस स्वरूप में लगा सकते हैं।

**अपना कर्तव्य और सिद्धि—**भैया ! अपना कर्तव्य तो यह है कि अपने में एक आत्मा का नाता ही लगायें केवल ! और लोक में जो अनेक बातें पर्यायों की फैल गयी हैं उन पर्यायों का पक्ष न रखें। मुझे शान्त होना है सुखी होना है और मेरे लिए धर्म चाहिए। वह धर्म इस दशलक्षण अंगों की पद्धति से प्राप्त होता है। इस धर्म का अंशमात्र भी सेवन करे कोई तो वह योगीश्वर मोक्षसुख का अनुभव करता है, अंश के सेवन से नहीं, किन्तु जो अंशमात्र भी सेवन करेगा उसके समग्र धर्म आ ही जायेगा। यह आत्मा साक्षात् धर्ममूर्ति है। आत्मा का जो स्वभाव है उसकी ही तो मूर्ति है। हमें न तो धर्म कहीं बाहर से लाना है न ज्ञान कहीं बाहर से लाना है, न आनन्द कहीं बाहर से लाना है, सिर्फ बाहर मेरा धर्म है, बाहर मेरा ज्ञान है, बाहर मेरा आनन्द है, ऐसा भ्रम बनाकर जो दृष्टि बाहर ही बाहर भ्रमा करती है उससे बड़ा कष्ट होता है। जरा अपनी ओर का झुकाव तो करें, हमारा ज्ञान, हमारा धर्म, हमारा आनन्द स्वयं अपने आपमें मिल जायेगा और ये जो ममता और भ्रांतियों की विपदाएँ बनी हुई हैं ये विपदायें समाप्त हो जायेंगी। ग्रहण करने योग्य सारभूत बात यह है कि अपने को ज्ञानस्वरूप पदार्थ मानें और अपने स्वरूप को धर्म समझें और उस स्वभाव में लीन होने का यत्न करें, यही धर्मपालन है।

## श्लोक-201

न सम्यग्गदितुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभिः।

हिंसाकपोषकैः शास्त्रैरतस्तैस्तन्निगद्यते॥201॥

**धर्मशून्यवचनों से धर्म की अवक्तव्यता—**हम आप सब जीवों के लिए एकमात्र परमशरण धर्म क्या है, इस बात को कहने के लिए वह पुरुष समर्थ नहीं हो सकता जो हिंसा और इन्द्रिय के विषयों के पोषण करने वाले कुदृष्टिजन हैं अथवा उन शास्त्रों से भी धर्म का स्वरूप यथार्थ समझ में नहीं आ सकता जो हिंसा और इन्द्रियों के विषय का ही पोषण करने वाले हैं अथवा उन गुरुओं सन्यासियों साधुओं से भी धर्म की बात समझने में नहीं आ सकती जो अपने इन्द्रिय के विषयों के पोषण में ही लगे रहते हैं। धर्म की बात उन्हीं पुरुषों के द्वारा विदित हो सकती है जिनका अपना जीवन भी उस धर्म में सना हुआ बना रहता है।

**धर्मशून्य वाणी में धर्म की अज्ञानकारी—**यों तो धर्म का स्वरूप जानकर पढ़कर शास्त्र से अध्ययन कर कहने की बात सभी कर सकते हैं, किन्तु अपने आपमें उस धर्म के भाव बनाकर फिर धर्म के स्वरूप का

वर्णन किया जाय तो उस जीवन में यथार्थ स्वरूप सत्य प्रकट होता है। यों तो लोग तोते को भी पढ़ा लेते हैं, कई-कई दोहा अथवा कई वाक्य तोते भी बोला करते हैं, पर क्या उन तोतों के चित्त में उसका कुछ अर्थ भी समाया है। जो सिखा दो सो तोता बोलने लगता है। ऐसे ही केवल अक्षर सीख लेने पर, धर्म की कुछ बातें याद कर लेने पर धर्म की बात को कहने लगें तो उनका कथन तोते की तरह है। और जैसे तोते किसी बात का उत्तर नहीं दे सकते हैं ऐसे ही केवल रटंत विद्या से जो कुछ विद्वान् बन जाता है वह विभिन्न श्रोताओं मर्मनिर्णायक उत्तर अपनी भाषा में नहीं दे सकता है।

**धर्माचरण से ही धर्मप्रभावना—**भैया ! धर्म की बात का प्रचार करने के लिए पहिले स्वयं को धर्ममूर्ति बनना चाहिए। किसी समाज में मान लो 100 पुरुष हैं और 100 के 100 ही पुरुष इस प्रयत्न में लग जायें कि लोगों में धर्म का प्रचार हो, लोग इस धर्म को मानने लगें, प्रशंसा करने लगें तो क्या आप यह कह सकते हैं कि वहाँ कुछ धर्म का प्रचार हुआ? जबकि 100 के 100 ही धर्म से शून्य हैं, केवल धर्म का प्रचार कर रहे हैं। यदि उनमें से एक भी कोई धर्मात्मा बन जाय तो यह कहा जा सकता है कि 100 आदमियों के समाज में एक आदमी तो धर्मात्मा निकला। धर्म एक प्रयोग और अनुभव की चीज है। दया से भरा हुआ हृदय रहे, असत्यता से अपने को दूर रखे, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा इनसे अपने को दूर बनाये रहे, सब जीवों का भला सोचे, सब जीवों में वह स्वरूप दिखे जिस स्वरूप से हम और ये सब एकसमान हों—ऐसी आत्मा के स्वरूपमर्म की बात चित्त में बसे तो वहाँ धर्म प्रकट होता है।

**यथार्थ प्रयोग के बिना विडम्बना—**सही प्रयोग के बिना तो ऐसी विडम्बना की स्थिति बन जायेगी जैसे एक कथानक दिया गया है कि बादशाह ने पूछा अपने मंत्री से कि मंत्री यह तो बताओ कि हमारे नगर में ये प्रजा के लोग सब हमारी आज्ञा मानते है या नहीं? मंत्री बोला, महाराज यदि मुझसे वचनमात्र से उत्तर दिलाते हो तो हम आपसे यही कहेंगे कि सब मानते हैं आपकी आज्ञा और सही बात समझना चाहो तो आपको हम कल समझा देंगे। अच्छा, तो मंत्री ने नगर में ढिंढोरा बजवाया कि कल सरकार को बहुत दूध की जरूरत है। सब लोग आज रात्रि को अपने-अपने घर से एक-एक सेर दूध लायें और महल में बड़ा हौद बनाया गया है उसमें डाल दें। सब लोग सोचते हैं अपने घर में बैठे-बैठे कि सब लोग तो दूध ले ही जायेंगे, हम अपने घर से एक सेर पानी ले जायें, रात्रि का समय है, कौन देखता है तो हम दूध देने से तो बच जायेंगे। हजार घर होंगे नगर में तो हजारों आदमियों ने यही सोच लिया, सब लोग एक-एक लोटे में पानी ले गये और उसी हौद में डाल दिया। सवेरे मंत्री ने बादशाह को दिखाया और कहा देखो महाराज आपके नगर में सब कैसे आज्ञाकारी हैं? दूध का हुक्म दिया था ना, पर इसमें एक बूँद भी दूध की है क्या? हम धर्म की आज्ञा मानते हैं, हम धर्म का बहुत बड़ा प्रचार करते हैं, पर खुद में धर्म कितना उतरा है यह भी तो निरख लो।

**धर्मलाभ की पद्धति**—धर्म तो धर्मात्मा बनने से होता है न, कि शब्दों से होता है। उस बोल व्यवहार का धर्म का न स्वयं पर असर होता, न कहीं अन्यत्र असर होता। वह तो एक विधि बना ली गई है। तो जो मिथ्यादृष्टि जन हैं, जिन्हें अपने इन्द्रिय का विषय ही प्रिय लग रहा है, जो खुदगर्ज हैं, अपने विषयभोगों में ही आसक्त रहा करते हैं उन पुरुषों से क्या धर्म का स्वरूप सम्यक्, प्रकार से कहा जा सकता है? उनमें से जो पुस्तकें मात्र विषय से, राग से, दुनियावी प्यारों से, इन ही वर्णनों से भरी हुई हैं, क्या उन पुस्तकों से धर्म का स्वरूप प्रकट हो सकता है? धर्म का स्वरूप तो धर्म के आचरण से प्रकट होता है। मात्र कहना झूठ है, करना सच है, यह बात लोक में बहुत प्रसिद्ध है? धर्म क्या है? इस बात को इस ग्रन्थ में आचार्य स्वयं बता रहे हैं और उससे पहिले धर्म की प्रशंसा में धर्म की कुछ विशेषता कह रहे हैं।

## श्लोक-202

चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः स्वर्धेनुः कल्पपादपाः।

धर्मस्यैते श्रिया सार्द्धं मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः॥202॥

**धर्म के लोकचमत्कार**—लक्ष्मी सहित चिन्तामणि रत्न, दिव्य नवनिधि, कामधेनु, कल्पवृक्ष, बड़े-बड़े विभूति ऐश्वर्य ये सब धर्म के चिरकाल से सेवक रहे हैं। आज जो मनुष्य शरीर से पुष्ट हैं, धन समृद्धि से सम्पन्न है, जनता में जिसकी बात मानी जाती है, जिसके संकेत पर जनता अपने आपको समर्पण कर सकती है, ऐसी-ऐसी जो महाविभूतियाँ मिली हैं, जो बड़ी विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं क्या आप यह कह सकते हैं कि इन विभूतियों को ये हाथ कमा सकते हैं? क्या आप कह सकते हैं कि जो विद्यायें पढ़ी हैं क्या उन विद्याओं के बल पर विभूति कमाई जा सकती है। यद्यपि ये भी सहायक हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि जिन जीवों ने पूर्वभव में धर्म किया था दया की थी, पापों से बचे थे, अपने आत्मा की दृष्टि की थी, प्रभु की भक्ति की थी उससे जो पुण्य कर्म का बन्ध हुआ उसके उदय का यह फल है कि आज सब कुछ अनुकूल समृद्धियाँ मिली हैं।

**भरनी में अपनी जिम्मेदारी**—अब उदय अनुकूल आता है तो यह धन विभूति न जाने किस-किस रास्ते से आ जाती है, न यह धनी जानता है, न और कोई जानता है पर जब पाप का उदय आता है तो चाहे जितनी सम्पन्नता हो पर यह वैभव न जाने किन-किन रास्तों से निकल जाता है, इसे भी कोई जान नहीं पाता। हाँ इतना अवश्य नियम है कि भक्ति करने का भला फल होता है और बुरी करनी का बुरा फल होता है। भले ही आज कुछ उदय अनुकूल है, पुण्य हैं और करनी बुरी करे तो भले ही वह बुरी करनी छिप जाय, प्रकट न हो, यश भी बनाये रखे, लेकिन बुरी करनी करने से जो बंध हुआ वह टलेगा नहीं। इसका कारण

यह है कि इस जगत में सर्वत्र ऐसे सूक्ष्म कर्म अणु भरे हुए हैं कि जब यह जीव विषयकषायों के परिणाम करता है, खोटे भाव करता है तो तत्काल ही वे सब कर्म अणु इस जीव के साथ कर्मरूप में बनकर ठहर जाते हैं। कोई जीव कहीं भी गुप्त भी पाप करना चाहे वह यह जाने कि हमें कोई देख नहीं रहा। इस पाप को करने से तो अब डर क्या है, लेकिन कोई यहाँ के लोग नहीं देख रहे तो न सही, किन्तु यह पाप करने वाला तो स्वयं जान रहा है और फिर पाप करने के समय में कर्म अणु तो कर्मरूप बन रहे हैं, इसे कौन निवार सकता है इसी कारण यह जीव जैसी करनी करता है वैसा उसे फल भोगना पड़ता है।

**सांसारिक माया पुण्यपाप का फल**—एक कवि ने कहा है, 'यदा लक्ष्मीः समायाति नारिकेलिफलम्बुवत् यदा विनश्यते लक्ष्मीगर्जभुक्तकपित्थवत्।' जब विभूति आती होती है तब इस तरह आती है जैसे नारियल के फल में जल। नारियल का फल होता है बड़ा। उसे लोग जानते ही हैं उसके फोड़ने पर उसमें पाव डेढ़ पाव पानी निकलता है। भला यह बतलाओ जिस फल का इतना कठोर छिलका है जो बड़े जोर से पत्थर पर मारने से फूट सकता है। उस फल के अन्दर पानी कहाँ से आया? आ गया। ऐसे ही यह वैभव लौकिक वैभव समागम कहाँ से आते हैं, कैसे आते हैं? जिसके पुण्य का उदय है जिसने करनी अच्छी—की है उसके यों ही आ जाता है, और जब यह वैभव जाने को होता है तो किस तरह से जाता है जैसे कोई हाथी कैथ खा ले तो दो एक दिन के बाद हाथी की लीद से कैथ निकलता है तब ऐसा होगा कि वह कैथ पूरा का पूरा निकलता है, उसमें कहीं दराद छिद्र वगैरा नहीं होता है, और उसका वज़न करीब डेढ़ दो तोला रह जाता है। तो यह बताओ कि उसका यह सारा रस कहाँ से किस तरह से निकल गया? तो ऐसे ही समझिये यह वैभव पाप के उदय में न जाने कहाँ से कैसे निकल जाता है, कुछ पता नहीं पड़ता। यह निधि करनी अपनी भली है, पुण्य की है तो रहती है, नहीं तो नहीं रहती। इसी कारण भैया ! अपने में सामर्थ्य हो तो दूसरों की रक्षा करने का भी यत्न रखना चाहिए।

**धर्म का प्रताप व स्वरूप**—यह सब सम्पन्नता धर्म की किंकर है। ये जो चक्रवर्ती 6 खण्ड की विभूति के राजा हुए हैं जिनके देवता एक सेवक रहे हैं, यह सब एक धर्म का ही तो प्रताप है। वह धर्म क्या है, इसका वर्णन कुछ किया है और कुछ किया जाएगा, पर संक्षेप में इतना समझ लो कि धर्म नाम है वस्तु के स्वभाव का। लोग अपने बोलचाल में भी कहते हैं, इस बिच्छू का धर्म काटना है और दयालु का स्वभाव दया करना है, दुष्ट का स्वभाव दुष्टता करना है। बोलचाल में भी यों बोलते हैं तो वस्तु का स्वभाव है वह धर्म है। तो धर्म क्या है? जो अपना स्वभाव हो वह अपना धर्म है। अपने से मतलब एक ज्ञानमय पदार्थ, जीव। मेरा धर्म क्या है? जो आत्मा में स्वभाव पड़ा हुआ हो। आत्मा में स्वभाव है जानने का। केवल जानते जाओ, बस यही धर्मपालन है।

**अभेदवृत्ति में आनन्द का वास—**धर्म में भेद नहीं है, जीव में भेद नहीं है, साधारणतया मनुष्य में भी भेद नहीं है पर रागद्वेष से पीड़ित ये मनुष्य कितना भेद डाल देते हैं? वे भाग्यशाली मनुष्य हैं जो अपने आपको इस स्वरूप में देखते हैं जिस स्वरूप से जगत के सब जीव अपने समान जँचते हैं। सबसे घुलमिल करके रहने में आनन्द है। अपनी-अपनी अलग-अलग खिचड़ी पकाने में आनन्द नहीं है। ऐसा जैसे लोक में कहते हैं ऐसे ही धर्म का स्वरूप भी समझिये। जीव के स्वरूप में हमारा स्वरूप घुलमिल कर रह जाय ऐसे उपयोग की वृत्ति बने, आनन्द तो उस स्थिति में है। अभिमान में कहाँ आनन्द रखा है? देखो मैं कितना भरापूरा हूँ, कितना वैभवशाली हूँ इस प्रकार की भेदरूप कल्पना करने में वह सत्य आनन्द नहीं आता, वह भी एक क्लेश ही है। कोई क्लेश मौज का है, और कोई क्लेश विषाद का है पर क्लेश सबमें है। जो संसार के सुख माने जाते हैं, उन सुखों में भी क्लेश ही छिपा हुआ है। आनन्द तो वह है जो सुगम है, स्वाधीन है।

**वैषयिक सुख की असारता—**जो सुख तकदीर के अधीन हैं, इतने पर भी सुख का विनाश देखा जाता है। अभी है, कल न होगा इतने पर भी जिस सुख के भोगने के बीच-बीच भी अनेक दुःख आते रहते हैं वह क्या सुख है जैसे आप सब समझ ही रहे होंगे, घर के स्त्री पुत्र भले हैं, उनसे बड़ा सुख मिल रहा है तो भी बीच-बीच में अनेक दुःख के प्रसंग भी आते रहते हैं। सुख-सुख का ही प्रसंग किसी के नहीं रहा। ये संसार के सुख बीच-बीच में दुःख से भी भरे हुए हैं। कितने ऐब है इस सुख में, जिसके पीछे मोहीजन बेतहाशा भोगे जा रहे हैं। कुछ शान्तहृदय से विचार तो करिये ये सुख विनाशीक हैं, दुःख से भरे हुए हैं और इतनी ही बात नहीं किन्तु ये पाप के कारण हैं। इस सुख के भोगने के समय कहाँ अपने प्रभु की याद रहती है, कहाँ अपने आत्मा के स्वरूप की याद रहती है। अपने प्रभु से विमुख होकर, अपनी आत्मदृष्टि से विमुख होकर जो ये मायामय सुख भोगे जा रहे हैं इनके भोगने से विकट पाप का बंध होता है। ये पाप के कारण हैं और इनके फल में भविष्य में नाना पद्धतियों से क्लेश भोगने पड़ेंगे।

**समागम में निर्लेप रहने का कर्तव्य—**सांसारिक सुखों का आदर करना अपना कर्तव्य नहीं है, इनके तो जाननहार रहें। यह घर मिला है, इतनी सम्पदा मिली है, इतना यश ऐश्वर्य मिला है, ठीक है, देख लिया, यह हमारा कुछ नहीं है। यह तो सब मायारूप है। अब इस देह को भी त्यागकर कभी जाना पड़ेगा तो हम कहाँ अन्य पदार्थों की मालिकाई का विश्वास रखें? जो गृहस्थ जल में रहने वाले कमल की तरह समागम से भिन्न रहा करते हैं। वे पवित्र होते हैं। कमल जल में उत्पन्न होता है, जल से उत्पन्न होता है और जल के कारण कमल हरा-भरा रहता है, इतने पर भी कमल जल से कई हाथ दूर रहता है। जल में नहीं बना रहता। यदि कमल जल में रहे तो सड़ जायेगा। तो ऐसे ही ज्ञानी पुरुष यद्यपि गृह में ही पैदा हुआ है और गृह में रहकर भी अपने अनेक अन्य पापों से भी बचा रहता है। अतएव वह घर की समृद्धियों से भरपूर भी रहता है लेकिन ज्ञानी पुरुष इस घर और समागम से अलग ही रहा करता है।

**मनचाही सृष्टि की आत्मसाध्यता—**भैया ! क्लेश या आनन्द का निर्माण सब एक ज्ञानसाध्य बात है। यह ज्ञान, ये कल्पनाएँ ममता की पद्धति से बढ़ें तो वहाँ पाप है, क्लेश है, अधर्म है और सही-सही दिशा से ज्ञान चले तो वहाँ धर्म है, शान्ति है। सब बात भीतर की है। अपने को ही सोचना है और वास्तविक स्वरूप के ढंग से सोचना है, धर्मपालन हो जायेगा। रागद्वेष मोह ये साक्षात् अधर्म है, और अपने आत्मा के सहज स्वरूप का विश्वास और अपने आपके स्वरूप का सच्चा बोध तथा अपने आपके स्वरूप में मग्न होने का पुरुषार्थ— ये सब धर्म हैं। कभी तो 10-5 मिनट किसी जगह एकान्त में बैठकर सारी बाह्य बातों को भूलकर, अपने आपके व्यावहारिक रूप को भी भूलकर जिस रूप में लोकव्यवहार करते हैं मैं अमुक नाम, अमुक जगह, अमुक पोजीशन का हूँ, इन सब बातों को भूलकर मैं तो एक जाननहार कुछ हूँ ऐसा ज्ञानमात्र अपने को मानकर इस सत्य का ही आग्रह करके बैठ जायें तो ऐसी एक अनुपम ज्योति अपने आपमें पावेंगे कि उसमें जो एक अनुपम आनन्द अपने आपको मिलेगा उस आनन्द की स्मृति ही आपका उद्धार कर देगी।

**धर्मप्रवर्तन का अनुरोध—**यह जीव इस संसार में अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही सुख-दुःख भोगता है। सब बातें इस अकेले पर ही व्यतीत होती हैं तो उस दुःख से छूटने के लिए इस अकेले आत्मराम का मर्म क्यों न जानूँ? मैं अपने को जानूँ और इस ही जानने के यत्न से अपने में आनन्द प्राप्त करूँ। धर्म अपना अपने आपमें ही है। धर्म की दूसरी व्याख्या है जो संसार के दुःखों से छुटाकर उत्तम सुख में धर उसे धर्म कहते हैं। धर्म का फल नियम से सुख-शान्ति है। धर्म से कभी अशान्ति नहीं हुआ करती, पर उस धर्म को हम बाहर न ढूँढ़ें, अपने आपके अन्दर ही खोजें। जितने हम रागद्वेष से दूर रहें उतना तो समझिये हम धर्म में है और जितना रागद्वेष की विषकणिका मिले समझिये उतना ही हम अधर्म करते हैं। हम सब जीवों में एक समान बुद्धि रखें और उसके सुखी रहने की भावना करें।

### श्लोक-203

धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाञ्छिताम्।

अपि लोकत्रयीपूज्यां श्रियं दत्ते शरीरिणाम्॥203॥

**धर्म से महनीय श्री का लाभ—**धर्म जीवों को उत्कृष्ट लक्ष्मी प्रदान करता है। ऐसी लक्ष्मी जो चक्रवर्ती के द्वारा चाही गयी है अर्थात् जिसे चक्रवर्ती चाहें, देवेन्द्र चाहे धरणेन्द्र चाहें ऐसी भी विभूति को यह धर्म प्रदान करता है। चक्रवर्ती आदिक महापुरुष भी इस धर्म के प्रसाद से ही बना करते हैं। धर्म का स्वच्छ स्वरूप क्या है जब यह बात अपने अन्तरङ्ग में अपने अनुभव से विदित हो जाती है तब धर्म के प्रसाद से ऐसे लौकिक

चमत्कार बहुत सुगम जँचते हैं। धर्म का तो वह प्रताप है कि जिसके प्रसाद से यह जीव सदा के लिए निराकुल हो जाय।

**निराकुलता के प्रयोजन का विवेक—**भैया ! एक कहावत में कहते हैं कि तुमको आम गिनने से काम है या खाने से काम है? इसी तरह से यह बताओ कि आपको विभूति से काम है, या निराकुलता से काम है? यदि निराकुलता से काम है तो विभूति के गिनने का, विभूति के विश्लेषण का क्या प्रयोजन है? वह काम किया जाय जिसमें निराकुलता बने। निराकुल होने का मार्ग ही एक है और वह है शुद्ध ज्ञान। बड़ा वैभव भी हो तो भी वैभव से निराकुलता नहीं होती। बल्कि वैभव को विषय बनाकर जो यह ज्ञान बाहर की ओर दृष्टि किए रहता है, बहिर्मुखता रहती है तो ज्ञान की बहिर्मुख पद्धति में तो आकुलता ही होती है। आकुलता वैभव से नहीं हुई किन्तु अपने ज्ञान की जो बहिर्मुखी वृत्ति हुई, उसकी आकुलता हुई। अर्थात् अपने अपराध से आकुलता है, वैभव के रहने या न रहने से आकुलता का निर्णय नहीं है। जितने तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदिक महापुरुष हुए हैं उनके तो बड़ी विभूति थी। हम आपके पास क्या है? अथवा समझ लो इससे भी करोड़ गुना विभूति हम आपने अनेक बार पायी होगी। उसके आगे आज की यह विभूति क्या है, किन्तु जीव को ऐसा मोह लगा रहता है कि जब जो पाया उसी को सर्वस्व समझते हैं।

**ज्ञान से शान्ति का लाभ—**शान्ति ज्ञान से मिलती है और अशान्ति अज्ञान से चलती है यह बात सभी घटनाओं में घटा लो। परिवार में रहते हैं, कोई कुछ बोलता है, लड़के कैसे ही चलते हैं, परिवार का कोई कैसी ही प्रवृत्ति करता है, उनको देखकर यहाँ जिसने अपने को बुजुर्ग घर का मान रखा है वह दुःखी होता है तो उसके दुःखी होने का साक्षात् कारण है अज्ञान। यह जो श्रद्धा में बनी हुई बात है कि मैं इसका अधिकारी हूँ, मैं जो चाहूँ इसे करना चाहिए, ऐसा जो विश्वास बनाया, बस यही अविद्या दुःख देती है। रही कर्तव्य की बात तो कर्तव्य का मार्ग तो ठीक है। जब घर में रहते हैं तो बच्चों को शिक्षा देते हैं। दो एक बार गलती हो जाय तो उनको शिक्षा देते रहते हैं और कोई यदि कुपूत ही उत्पन्न हो गया, कलहकारिणी ही घर में स्त्री बनी हुई है, अन्य-अन्य सब प्रतिकूल हो गए हैं तो इसका फिर यह कर्तव्य नहीं है कि यह उनके व्यामोह में ही, पक्ष में ही अटका रहे। वहाँ यह विवेक करना चाहिये बाबा तुम लोगों का भाग्य ही विपरीत है तो हम तुम्हारे सुधार में क्या निमित्त बनेंगे? जैसे अनन्त जीव हैं दुनिया में वैसे ही एक हम आप जीव हैं, लेकिन यह तो मेरा ही है, मैं इसके पीछे जान दे दूँगा ऐसी मान्यता रखना यह घोर अंधकार है। सुगमतया इतनी शिक्षा अगर कोई मानता है तो कर्तव्य है कि समय-समय पर योग्य बात बताई जाय, लेकिन इस जीव के या अचेतन विभूति के पीछे ममता की कमर कसे रहना, यह तो कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है।

**परवैभव से शान्ति का अलाभ—**बड़े-बड़े चक्रवर्ती तीर्थकर आदिक हुए, जिनके अटूट विभूति थी, नवऋद्धि सिद्धि जिनके बारे में प्रसिद्ध है। उनका भी वैभव में मन लगा नहीं, उन्हें छोड़कर ही उन्होंने शान्ति प्राप्त की।

इससे भी यदि निर्णय बना लो कि वैभव को रख-रखकर कोई शान्ति नहीं पा सकता। अच्छा, यदि वैभव से शान्ति मिलती है तो उसे लपेटे रहें, हैं किसी में ऐसी शक्ति? मरते समय भी परिजन या वैभव को अपनी छाती से लगाये रहें तो क्या उसका एक अंश भी साथ जा सकता है? जो कुछ आज समागम है इसको देखकर इसमें बेहोश न होना चाहिए। विवेकशील रहना चाहिए। अपने को अपना स्मरण रहे ऐसी साधना रखनी चाहिए, नहीं तो जैसी लोकप्रसिद्धि है कि धोबी का कुत्ता घर का न घाट का। पता नहीं क्यों ऐसी प्रसिद्धि है, ऐसे ही हम कुछ थोड़ासा धर्म की तबीयत बनाकर धर्म के काम में लगे और साथ ही गृहस्थी का कुटुम्ब का मोह सता रहा है तो उस ओर बढ़ें, साथ ही धर्म की कुछ धुन सी आये, जैसे एक पागलपन सा समझिये, उससे कुछ धर्म की ओर लगे तो यह संसार में रुलने का ही काम रहा, पार होने का नहीं।

**दृढ़ रुचि से धर्मपालन में लाभ—**चाहे भैया ! चौबीस घंटों में 5 घंटे धर्म मत करें, करें चाहे 5 मिनट, पर जो समय दिया है उस समय में अपनी इतनी तैयारी अन्दर की रहे कि हमें किसी भी अन्य वस्तु से प्रयोजन नहीं है। किसी भी परपदार्थ का दूसरे वस्तु का हमें ख्याल नहीं करना है और देह से भी न्यारा मैं हूँ, ऐसे केवल ज्ञानपुञ्ज को ही हमें निहारना है, ऐसी दृढता के साथ यदि 5 मिनट भी दृष्टि बने तो वह काम करेगी और धर्म में दिल तो है नहीं, चित्त तो ममता में है और फिर भी लोक दिखावे की वजह से अथवा अपनी कुलपरम्परा की वजह से हम लगे रहें धर्मकार्य की ओर तो धर्म साधन का जो प्रयोजन है वह सिद्ध न हो सकेगा। धर्म का तो इतना अतुल प्रताप है कि यह जीव निराकुल हो जायेगा सदा के लिए। यह जड़ विभूति तो चीज क्या है। कुछ प्रयोग करके अंदाज करने से ही यह सब विषय स्पष्ट होगा। प्रयोग यही है कि हम इन इन्द्रियों के विषय को रोककर किसी भी बात को सुनने की चाह न करें, इन नेत्रों को बन्द करें, कुछ न देखें और सभी इन्द्रियों को संयमन करें, किसी भी इन्द्रिय के विषय में न लगे और गुप्त ही गुप्त अपने ज्ञान को अपनी ओर भीतर ढालकर कुछ निरख करें कि हूँ मैं क्या असल में, मेरा स्वरूप क्या है?

**निज की बेसुधी का असर—**भला, जो जाननहार हैं वह अपने ही स्वरूप को न जान सके यह तो अंधेर की बात है। अग्नि है वह दूसरों को जलाती है और खुद गर्म न हो, बाहर की चीज को तो जलाये और अग्नि के निकट पदार्थ हो उसे पानी की तरह शीतल रखे यह तो नहीं हैं वहाँ। जिसका जैसा स्वभाव है उसका वह सर्वाङ्ग स्वभाव है। तो हमारा स्वभाव जानने का है, हम इतनी चीजों को जान रहे हैं और जानने वाले को हम न जान सकें यह तो अंधेर की बात होगी। जानने वाले को जानना तो अति सुगम है। बाहरी पदार्थों को जानने में तो अनेक विघ्न हैं। इन्द्रियाँ समर्थ हों, उजेला आदिक बाहरी साधन हों, हमारे आवरण कर्मों का क्षयोपशम हो, शिथिलता हो, हमारी ज्ञानशक्ति भी काबिल हो, अनेक बातें हों तब हम जान सकते हैं बाह्य पदार्थों को। पर अपने आपको जानने के लिए बाह्य साधनों की तो जरूरत है ही नहीं, दिया न जलता हो, सूर्य प्रकाश न हो तो हम अपने आत्मा को न जान सकें ऐसी बात तो नहीं हैं। अंधेरा हो, उजेला हो, घर में हो, वन में हो, परतंत्र हो, सम्पन्न हो, रोगी हो, स्वस्थ हो, कुछ भी हालत हो, यदि ज्ञानशक्ति प्रबल है और

सम्यक्त्व के ढंग से है तो हम हर स्थिति में अपने आपके स्वरूप को जान सकते हैं। जिसने अपने इस आत्मस्वरूप को जाना उसने सब कुछ प्रयोजनभूत जान लिया। अब उसे अन्य कुछ जानने का प्रयोजन नहीं।

**बाह्य में शरण का अभाव—**भैया ! एक इस अपने को न जान पाया, दुनिया की अनेक चीजों को जानते रहे तो फिर ठौर ठिकाना न मिलेगा, फुटबाल की तरह दर-दर ठोकरें ही खानी पड़ेंगी। मानो बेचारा फुटबाल दूसरे बालक की शरण गहने गया तो वहाँ से ठोकर मिलेगी, अन्य बालक के पास शरण लेने गया तो वहाँ से ठोकर मिलेगी। यों ही फुटबाल की तरह यह जीव ठोकर खाता रहेगा। काल्पनिक विपत्तियों से परेशान होकर सोचा कि स्त्री हमारी शरण बनेगी, पर वहाँ से भी इसे ठोकर मिलेगी। इस संसार में किसी से भी शरण की आशा करे तो इसे ठोकर ही मिलेगी। माना उस स्त्री से जीवन भर ठोकर न मिले तो जब उसका मरण होगा तो उसके वियोग की ठोकर लगेगी। जिन्दगी भर ठोकर न मिला तो मरकर ठोकर मिला। पर जितने भी से समागम हैं उन सबकी ओर से इस जीव को ठोकर लगती है। कोई अपना बहुत अनुकूल मित्र है, उससे अपने को बहुत सुख उत्पन्न हुआ, पर इस जीवन में ही कोई समय ऐसा भी आयेगा कि किसी न किसी रूप में उससे भी ठोकर लगेगी। तो ठोकर बाहरी चीजों से न लगेगी, सब अपनी कल्पनाएँ हैं। अपनी कल्पनाओं से कुछ सुख माना था और अपनी ही कल्पनाओं से अब दुःख माना है।

**सर्वत्र अपनी जिम्मेदारी—**भैया ! सब अपने आप पर अपनी जिम्मेदारी है। जो जैसा करता है वैसा भोगता है। और कोई यह भी धारणा रखते हैं कि हमको सुख दुःख देने वाला ईश्वर है, लेकिन हम पाप करें तो फल किसे मिलेगा? चाहे ईश्वर ने ही दिया सही, फल तो बुरा मिला ना। तो मूल जिम्मेदारी किसकी रही? हमारे सुखी दुःखी होने में मौलिक जिम्मेदारी हमारी रही कि भगवान की? हम जैसा करते है वैसा भोगते हैं। चाहे वह निमित्तनैमित्तिक भाव से फल मिले, और चाहे किसी का दिया हुआ फल मिले। किसी ही प्रकार मिले पर उसमें दो राय नहीं हैं कि हम पाप करें, हम बुरा करें तो हम बुरा फल पायेंगे अच्छा करें तो अच्छा फल पायेंगे। तो हम जिम्मेदार अपने ही तो रहे।

**बात का बतंगड़—**हम जरा-जरासी लोलुपता के पीछे मायामयी साधनों के लिए मायाचार करें, तृष्णा करें, दूसरों पर दया न करें, यह कितनी बड़ी भूल है कि बात न चीत विडम्बना इतनी बड़ी कि जिसे जैसे लोग कहते हैं कि बात का बतंगड़ हो गया। बात कुछ न थी और बात का बतंगड़ इतना बढ़ गया, ऐसे ही समझो कि हम आपका जो इतना बतंगड़ बना है, मरे, कीड़ा बन गए, मरे, पशु बन गए, मरे पक्षी बने अथवा मनुष्य-मनुष्य भी रहकर हजारों तरह की विपदाओं में ग्रस्त हुए, कितनी आकुलता कितने विकल्प? इतना जो बतंगड़ बना है वह जरासी बात का बन गया। वह जरासी बात कितनी कि यह अपना ज्ञान अपनी ओर मुड़ करके न जाने और इसने इस तरह बाहर की ओर मुँह करके जाना सो बतंगड़ इतना बढ़ा हो गया। तो जो यह बहिर्मुख दृष्टि है यही अधर्म है और अन्तर्दृष्टि होना यही धर्म है। हमें धर्म अधर्म का निर्णय

देहधारी के ढंग से न करना चाहिए। हम मनुष्य हैं, यों मनुष्य के ढंग से न करना चाहिए किन्तु हम जीव हैं, आत्मा हैं उस आत्मा के नाते से हमें धर्म और अधर्म का निर्णय करना चाहिए।

**अपना धर्म—**भैया ! अन्तर्वृत्ति के निर्णय से समझ लिया होगा कि मूल में धर्म यह निकला कि मेरा ज्ञान मेरे को जाने, जिसमें रागद्वेष स्वयं छूट जाते हैं वह स्थिति तो धर्म है और बाहर में फँसे और उनमें रागद्वेष पक्षपात की वृत्ति रखी, बस वह अधर्म है। मोटे रूप में निष्कर्ष में यों कह लो हमें जो चीज अधिक से अधिक प्यारी है वही मेरे को अधिक से अधिक दुःख का कारण है। जिससे अधिक प्रेम होता है उसके गुजरने पर अधिक शोक होता है और जिससे कम प्रेम रहता है उसके गुजरने पर कम शोक रहता है। तो अर्थ यह निकला कि जो अधिक प्यारी वस्तु हो वह अधिक दुःख का कारण है। सो वस्तु दुःख का कारण नहीं, अधिक प्रेम हो तो अधिक दुःख, कम प्रेम हो तो कम दुःख, और प्रेम न हो, मोह न हो, द्वेष न हो, केवल जाननहार रहे उसको कोई दुःख का काम ही नहीं है। तो जब धर्मदृष्टि जगती है तब वहाँ सारा वैभव प्राप्त हो जाता है। हमें यदि निराकुलता चाहिए, तो हमें जमीन मकान की गिनती न करनी चाहिए। अगर निराकुलता जमीन मकान से मिले तो जमीन मकान का संचय किया जाय, यदि हमें निराकुलता सभी चीजों के त्याग से स्वयं मिले तो वह स्थिति पसंद करें। संकल्प यह होना चाहिए कि मुझे तो निराकुलता चाहिए, समृद्धि न चाहिए।

**मोह में स्वरूपभ्रष्टता—**बहुत से लोग तो निराकुलता के उद्देश्य की बात को भी तैयार नहीं हो सकते। वे यह मानना नहीं चाहते कि हमें तो धन न चाहिए। निराकुलता चाहिए। उनका तो बर्ताव है, यह भीतरी भाव है कि हमें तो धन चाहिए, हम पर चाहे कुछ गुजरे। हमें तो राज्य चाहिए, चाहे हम पर कुछ गुजरे। आकुलित होते हैं और आकुलता के साधनों में ही मोह बढ़ाते हैं, यह स्थिति हो रही है। जैसे लाल मिर्च खाते जाते हैं, सी-सी करते जाते हैं, आँसू भी गिरते जाते हैं और मांगते भी जाते हैं कि और लाओ मिर्च। ऐसे ही ये जीव दुःखी भी होते जाते हैं, आकुलित भी होते जाते हैं और फिर भी उन्हीं साधनों में रमते हैं। जैसे लड़के को पालपोस रहे, वह मारता भी, मूँछ भी फाड़ता, ऊपर मल मूत्र भी करता और बड़ा होने पर कष्ट भी देता तो भी उसे मानते कि यह तो मेरा ही है। ऐसी दृढ़ ममता, कैसा अज्ञान चित्त में बसा है?

**ज्ञानी के विवेक का संतुलन—**ज्ञानी पुरुष चाहे घर में रहे, चाहे वन में रहे उसका तो संतुलित विचार रहता है, वह किसी थोथी भावुकता में नहीं आता। जरासी देर में इस ओर बह गया, फिर उस ओर बह गया ऐसा वह विवेकी पुरुष नहीं करता है। वह अपने विवेक से अपनी दृष्टि से सब हल निकालता है। घर में रहता हुआ भी ज्ञानी वैरागी है और घर छोड़कर भी अज्ञानी मोही है। जब तक अपनी ज्ञानदृष्टि में उत्साह रखने की पक्व स्थिति न बने, घर छोड़कर के अपने आपके संयम को चर्या को भली प्रकार निभा सके ऐसी पक्की स्थिति न बने, तब तक तो उसका घर का छोड़ना भी बेकार है। जो चीज सामने रखी है तो सामने होने पर

भी उससे राग न करे यदि कुछ भी विवेक हो तो यह बात करना सरल होता है अन्यथा जो वस्तु हमें न मिले या जिसे छोड़ दें उस वस्तु का राग छोड़ना कठिन होता है। जैसे आपके घर में सब साधन हैं और थोड़ा आप विवेकी हैं तो आपको उन साधनों में आसक्ति न होगी। जो चीज सामने नहीं है रात दिन वही ख्याल में रहेगी और जो चीज सामने है उसमें इतना राग नहीं हो सकता, ऐसी भी स्थितियाँ होती हैं। इससे हमें चाहिए कि ज्ञान बढ़ायें। वस्तु के स्वरूप का निर्णय रखें, सच्चा ज्ञान रखने का यत्न करें, इस ओर हमारा बहुत यत्न होना चाहिए। जब हम ज्ञानदृष्टि से परिपक्व हो जायें तब हमारा त्याग भी हमें लाभ देगा। अज्ञान अवस्था में बाहिर त्याग से लाभ नहीं प्राप्त होता।

**धर्म का प्रसाद**—अहा, धर्म में तो यह सामर्थ्य है कि वह ऐसी अनुपम निराकुलता को, मुक्तिरूप लक्ष्मी को, मोक्ष को प्रदान करता है। उस धर्म के प्रसाद से यदि लोक की बड़ी-बड़ी विभूतियाँ मिल जायें जिन्हें चक्रवर्ती आदिक भी चाहते हैं तो उनमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बल्कि यों समझिये कि धर्म का तो बहुत ऊँचा फल है। उस धर्म के साथ जो छोटा-छोटा धर्मानुराग रह रहा है उस राग का फल यह है कि बड़ी-बड़ी विभूतियाँ मिल जाती हैं। धर्म के फल में तो मुक्ति मिलती है और धर्म होने के साथ-साथ जो गलती हमारी रहती है उस गलती के फल में यह विभूति मिलती है यानि धर्म का सम्बंध पाकर गलती में भी इतना प्रताप पड़ा हुआ है तो फिर धर्म की सामर्थ्य का तो कुछ कहना ही क्या है। तीर्थंकर की लक्ष्मी, समवशरण लक्ष्मी जो तीनों लोकों के द्वारा पूज्य हैं भगवान का ऐश्वर्य उसे भी प्रदान करने वाला यह धर्म है। इस धर्म की हम भावना बनायें, धर्म की ओर अपनी रुचि रखें तो हमारे लिए लोक में कुछ शरण है अन्यथा फुटबाल की तरह यहाँ के वहाँ धक्के खाते ही रहना होगा, जन्म-मरण करते रहना होगा।

## श्लोक-204

धर्मो व्यसनसंपाते पाति विश्वं चराचरम्।

सुखामृतपयः पूरैः प्रीणयत्यखिलं जगत्॥204॥

**धर्म की रक्षकता**—कष्ट के आने पर इस चराचर विश्व की रक्षा करने में समर्थ एक धर्म ही है। धर्म ही हमारा रक्षक है। इसका कारण यह है कि हमारा अधर्म ही हमें विपत्तियाँ देता है। तो अधर्म का विरोधी है धर्म/अधर्म से विपदायें आती हैं तो धर्म से विपदायें नष्ट होती हैं। वैसे ही मोटे रूप में लोकव्यवहार में देख लो जो पुरुष दूसरों को सताते हैं, दूसरों के विषय में झूठ बोलते हैं, दूसरों की चुगली निन्दा करते हैं, दूसरों से मायाचार रखते हैं, छल कपट का बर्ताव रखते हैं, कुशील बुरी निगाह करते हैं और जैसे आये वैसे परिग्रह के संचय की धुन बनाते हैं उस व्यवहार में प्रायः अन्य लोगों के द्वारा विपदायें आती रहती हैं। हम

सताते हैं दूसरों को तो कोई कमजोर हो, भले ही वह हमें कोई बदला न दे सके और कभी-कभी तो कमजोर भी बड़ा बदला दे डालते हैं। यदि किसी समर्थ से पाला पड़ गया तो वह तो इसकी मनमानी मरम्मत कर देगा। अधर्म का बर्ताव रखे तो यहाँ ही उपद्रव पड़ौसियों के द्वारा आता है। जो झूठा होता है, जिसमें चोरी की आदत पडी है, जो व्यभिचारी होता है उसे कोई लोग पास नहीं बैठने देते। लोग उसे बुरी दृष्टि से देखते हैं। तो विपदायें बुरे लोगों पर अधर्मीजनों पर आती हैं यह तो यही नजर आता है। किन्तु जो लोग धर्म पूर्वक अपना व्यवहार रखते हैं, सच्चाई से रहना, दूसरे का चित्त न दुःखाना, अपनी दृष्टि सही बनाना, ब्रह्मचर्य की साधना रखना, ऐसे सत् आचरणों में जिनका वातावरण पलता है उनका सब लोग आदर करते हैं।

**धर्म की आनन्दप्रदायकता**—यह बात बिल्कुल सही है कि धर्म जीव को कष्ट से अलग रखता है, वह कष्ट से अलग रखे इतना ही नहीं, किन्तु आनन्दरूपी अमृत के जलप्रवाह से यह धर्म समस्त जगत को तृप्त करता है। धर्म की स्थिति में सबका रूप ही इस प्रकार बन जाता है कि वहाँ सत्य आनन्द झरता है। जहाँ क्रोध, मान, माया, किसी भी परद्रव्य की चाह नहीं है, ममत्व नहीं है ऐसी विशुद्ध स्थिति हो तो वहाँ क्लेश का क्या काम है। आनन्दरूपी अमृत का प्रवाह झरता है वहाँ जहाँ यथार्थता से प्रेम हो। प्रवाह से समस्त जगत को तृप्त भी बनाये रहता है। जगत के प्राणी यत्र तत्र जलते रहते हैं उसका कारण है कि ये अतृप्त हैं, तृप्त हों तो क्यों भ्रमण करें, क्यों नये-नये जन्म धारण करें? यह जीव तृप्त नहीं है और अतृप्ति का कारण है जीव को पञ्चेन्द्रिय के विषयों में और मन के विषयों में प्रीति जगी है, और इन विषयों के प्रेम से यह जीव अतृप्त है। यह अतृप्ति कब मिटे? जब विषयों की प्रीति न रहे और खुद ही जो प्रभुस्वरूप है उसकी भक्ति जगे तो यह अतृप्ति दूर होगी, असन्तोष दूर होगा और सन्तोष प्रकट होगा।

**महान् कार्य**—सबसे बड़ा काम है अपने को धर्मरूप बनाये रहना। अधर्म करके मानो कुछ वैभव भी आ रहा हो, प्रथम तो वैभव अधर्म से आता नहीं, इसके ही पूर्व धर्म से जो पुण्य बना, उसके प्रताप से वैभव आता मान लो वैभव आ रहा है और उस काल में भी अधर्म का बर्ताव करे तो यों कहा जाता कि अन्याय से पैसा कमा लिया। यों अधर्म करके कभी वैभव भी आये तो नफे की बात न समझिये। वह वैभव भी खत्म होगा और पाप करने के फल में कभी कुछ देर लग जाय तो भले ही लग जाय, पर यह अंधेर नहीं है कि पाप का फल न मिले। कर्म संचित होते रहते हैं और कभी एकदम बुरी प्रकार से फूट निकलते हैं।

**अध्यात्मपुरुषार्थ का अनुरोध**—धर्म ही जीव को कष्ट से बचाता है और धर्म ही जीव को आनन्द में बसाकर तृप्त बनाये रहता है यह अपने एक ज्ञान के प्रयोग द्वारा साध्य है। यहीं बैठे ही बैठे आप लोग बाहर का सब ध्यान भूलकर जब संसार में हमें अकेले ही जन्म-मरण करना पड़ता है, सुख-दुःख भोगना पड़ता है उसका अन्य कोई साथी नहीं है, तब बाह्य की क्यों भीख माँगे, यों विवेक करके जब अन्तर में थोड़ी देर के लिए ख्याल ही भूला दें समस्त पर का व एक अपना ही ध्यान लगायें और देह से न्यारा अपने आपको

विचारें, ऐसा विविक्त सबसे जुदा ज्ञानपुञ्जरूप अपने आपको सोचें तो इस अध्यात्म पुरुषार्थ में आनन्द अपने आप झर जायेगा।

**पर से सुख मानने का भ्रम—**जिन विषयों से पर्यायबुद्धि जीव सुख माना करते हैं वे विषय इस आनन्द में बाधा देने वाले हैं, पर मोही को इस मर्म का क्या पता? आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, पर अपने को न आनन्दस्वरूप मानकर यह व्यामोही प्राणी किन्हीं बाह्य पदार्थों से विषयों से मुझे आनन्द मिला ऐसी दृष्टि बनाता है और इस दृष्टि में यह अपने आनन्द को खो देता है। जब कभी विषयों को भोगते हुए भी सुख मालूम हो रहा हो तो वहाँ भी कहीं भोजन से, घर से, वैभव से, स्त्री से, मित्र से सुख नहीं आता है, वहाँ भी अपने में बसा हुआ जो आनन्द गुण है उस आनन्द से सुख आया करता है किन्तु मोही जीव को इस मर्म का पता नहीं है, सो वह भोगता तो है अपने ही आनन्द का सुख, किन्तु मान रहा है कि मुझे दूसरे जीव से अथवा अमुक पदार्थ से सुख मिला है। कभी किसी पदार्थ से सुख निकलता हुआ किसी ने देखा है अथवा किसी जीव का सुख उस जीव से निकलकर मुझमें आये, ऐसा कभी देखा है? प्रत्येक परिस्थितियों में जब कभी भी हम सुखी होंगे तो अपने ही आनन्द के परिणामन से सुखी हुआ करते हैं।

**धर्म का प्रारम्भिक पालन व कषायों का परिहार—**मैं जीव हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, आनन्द है। यों अपने ज्ञान और आनन्द स्वरूप की दृष्टि बने, यही प्रारम्भिक धर्म का पालन है। धर्म के निर्णय के लिए यहाँ दृष्टि न फँसायें। अपना स्वरूप तो धर्म है। अधर्म की बात छोड़ी कि धर्म का आनन्द स्वयमेव आ जाता है। जैसे आप गुस्सा छोड़ दें तो क्षमा अपने आप आ जायेगी। गुस्से से जो कष्ट हुआ था वह कष्ट नष्ट होकर आनन्द अपने आप आ जायेगा। घमण्ड कर करके जो कष्ट उठाया जाता है वह उस घमण्ड को छोड़ दे कष्ट अपने आप समाप्त हो जायेगा। मायाचार करके यह जीव कितना दुःखी रहा करता है, निरन्तर शल्यवान रहा करता है। मेरे मायाचार का किसी को पता न पड़ जाये, ऐसी बात वह मन में रखता है उसको छिपाने की शल्य बनी रहती है। क्रोध करता है कोई तो क्रोध को छिपाने की बात कौन विचारता है? जाहिर हो जाये तो हो जाये। यदि क्रोध को छिपाने की भी कोई मन में सोचता है तो वह क्रोध की बात नहीं हुई मायाचार की बात हुई। तो मायाचार अन्तः शल्य पैदा करता है। जैसे देह में कहीं कांटा चुभ जाय तो वह कांटा ही एक शल्य पैदा करता है। इसी तरह मायाचार का परिणाम अपने अन्तः में चुभन पैदा करता है। मायाचार को छोड़ें और स्वयं अनुभव करे कि देखो हमको कितनी शान्ति मिली है? लोभ भी क्लेशों का मूल है, उसे छोड़कर अनुभव कर लो कितनी शान्ति मिली है?

**तृष्णा के परिहार में धर्म का अवकाश—**लोभ का रंग भी बड़ा विचित्र है। कितना भी कुछ जुड़ता जाय पर यह लोभी जीव मना नहीं करता। इसके लोभ लगा रहता है। जो आज है आपके पास कभी इसका चौथाई भी न था ऐसा परिस्थिति वाले लोग हैं, किन्तु चतुर्गुणा आ जाने पर भी चित्त में यह सन्तोष भी नहीं

कर पाते कि इससे अधिक मुझे कुछ न चाहिए और प्रथम तो यह बात है कि सभी के पास जिसके पास जो कुछ है वह जरूरत से कई गुना अधिक है। लोग तो यह कहते हैं कि हमारी जरूरत पूरी ही नहीं हो पाती, बहुत कम धन है और बात यह है कि सबके पास इतना अधिक धन है कि वह उनको जरूरत से ज्यादा है। इसका प्रमाण यह है कि आपसे भी कम जिनके पास वैभव है उन पर निगाह डालो( उनका भी गुजारा हो रहा है या नहीं। तब यह निर्णय अपना बना लो कि हमें जो मिला है। वह जरूरत से कई गुना अधिक मिला है। अज्ञानी जन उद्दण्डतावश अपनी जरूरतें बढ़ाते हैं और अपने को कष्ट में रखते हैं। सीधा-सादा रहन-सहन भोजन, सीधा बर्ताव हो और वैभव फिर जितना अधिक आये उसका सदुपयोग करें, परोपकार में लगायें तो इस वृत्ति से बड़ी शान्ति मिलेगी।

**उदारता से ख्याति—**लोग धन जोड़कर यही तो चाहते हैं कि इस दुनिया में मेरा नाम बड़ा हो। तो क्योंजी कोई यदि धन का त्याग करे, दान करे कोई बड़ी चीज पब्लिक के कल्याण के लिए बनाये तो क्या उसका नाम बड़ा नहीं होता? धन को जोड़ते रहने का नाम बड़ा होना है या उदारता का नाम बड़ा होना है? यह मन में बात न लायें कि मेरे पास धन अधिक है तो मैं आराम बढ़ाऊँ, बहुत वाहन रखूँ, बहुत साज श्रृंगार करूँ, बहुत नखरे नाज करूँ, ऐसी बात मन में न लायें। कितना भी वैभव हो अपनी सादगी न छोड़ें। वैभव का सदुपयोग दान में और परोपकार में तो करें पर अपने आराम, साजश्रृंगार में न करें। इस सादगी से अनेक फायदे हैं। कभी वैभव न रहे तो यह दुःखी नहीं हो सकता क्योंकि इसकी सादगी से रहने की आदत है। कभी कोई साधन न मिला आराम का, साज-श्रृंगार का तो यह दुःखी नहीं हो सकता। फिर लौकिक लाभ तो जो यश का है वह तो इसका कृपण से अधिक यश है। कृपण का कहाँ यश होता है? जो अपने विषयों से सम्बन्ध नहीं रखते ऐसे कार्यों में कोई अपना धन व्यय करे तो वह उदारता है। उदारता बिना यह त्याग नहीं हो सकता। तो लोभ से कितनी पीड़ायें उत्पन्न होती हैं, लोभ तज दो और उसी समय अनुभव करो कि हमें कितना आनन्द मिला है, हमारे क्लेश का कितना बोझ हट गया है?

**धर्म से संकटों का विनाश—**भैया ! कषायों का अभाव हो अर्थात् धर्म का पालन हो तो उससे समस्त संकट दूर हो जाते हैं और धर्म का आनन्द ही स्वरूप है। ऐसे आनन्द के प्रवेश में यह धर्म धर्मात्मा को सुखी कर देता है। हम अच्छा आचरण करें, बुरे आचरण से दूर रहें, अपने आप पर अपनी जिम्मेदारी समझकर, मैं ही अपना जिम्मेदार हूँ ऐसा मानकर जिस प्रकार से अपनी सुगति बने, शान्ति मिले उस प्रकार का बर्ताव रखना चाहिए अर्थात् धर्म का अपना वातावरण रखना चाहिए जिससे अशान्ति दूर हो।

## श्लोक-205

पर्जन्यप वनार्केन्दुघराम्बुधिपुरन्दराः।

अमी विश्वोपकारेषुवर्तन्ते धर्मरक्षिताः॥205॥

**धर्मरक्षितों की विविध वस्तुओं से रक्षा**—कभी किसी चीज से अपनी रक्षा हो रही है ऐसा मालूम पड़े तो वहाँ भी वह अर्थ लगाना की हमारी धर्म से रक्षा हो रही है। क्योंकि धर्म न हो, पुण्य न हो तो बाहर में भी हमें रक्षा का साधन न मिलेगा। मेरे अथवा समस्त जगत के उपकार के लिए जो मेघ, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र इत्यादिक जो-जो भी हमारे उपकार के लिए प्रवृत्ति कर रहे हैं तो वे सब भी समझिये धर्म द्वारा रक्षा किए हुए ही प्रवर्तते हैं अर्थात् अपने पल्ले धर्म न हो तो यहाँ कभी भी अपना उपकार नहीं हो सकता।

**मेघ द्वारा उपकार**—देखो मेघों का कितना बड़ा उपकार है? मेघ समय पर बरसे तो उससे अनाज तो उत्पन्न होता ही है, पर साथ ही साथ शुद्ध ऋतु शुद्ध वायु का भी लाभ होता है। ठंड के दिनों तक में भी यदि पानी कभी न बरसे तो उसे सुखी ठंड कहते हैं और उससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। मेघ से अन्न उत्पन्न होता है जगत के प्राणी उसका उपभोग करते हैं। जगत सुखी होता है तो ये मेघ भी कब काम देते हैं जब जीवों के पुण्य का उदय हो। पुण्य अथवा धर्म न हो जीवों के तो मेघादिक भी उपकारी नहीं बन पाते। कोई उपकारी बन रहा हो तो वहाँ भी यह निर्णय रखना कि हमारे धर्म के कारण, हमारे पुण्य के कारण यह उपकारी बन रहा है।

**वायु द्वारा उपकार**—हवा का कितना अधिक उपकार है? हवा बिना तो आग भी जिन्दा नहीं रहती। कोई खुली चिमनी का लैम्प है उसके ऊपर ढक्कन ढक दो तो वह बुझ जायगा। अग्नि भी हवा पाकर जीवित रहती है। हवा को पाकर वनस्पति, जल, पृथ्वी सभी सही रूप में रहते हैं, और हवा से हवा भी जीवित रहती है। हम आप लोगों को भी बहुत निकट उपकारी हवा है। जैसे कहते हैं कि अन्न तीन चार दिन भी न मिले तो कुछ भी बिगाड़ न होगा और पानी अन्न की अपेक्षा कुछ जल्दी मिलना चाहिए और हवा पानी की अपेक्षा भी बहुत जल्दी-जल्दी मिलनी चाहिए। जैसे मान लो 5 दिन तक न खाया जाय तो भी मनुष्य जीवित रह सकता है जो जल बिना 1-2 दिन ही मुश्किल से निकल सकते हैं और हवा बिना तो दो एक घंटा भी निकलना कठिन है। तो समझिये हवा का हम आप पर कितना उपकार है, लेकिन हवा का लाभ मिलना उपकार होना यह भी हम आपके पुण्य के प्रताप से होता है।

**सूर्य द्वारा उपकार**—सूर्य से कितना उपकार है जगत का।? न निकले सूर्य 8-10 दिन लगातार, खूब घनघोर बादल रहें तो इतने ही दिनों में मनुष्य की क्या हालत हो जायेगी? गर्मी से सूर्य बड़ा तीक्ष्ण निकलने

पर यद्यपि वह असह्य सा होता है, किन्तु आपको मालूम है यदि तेज गर्मी न पड़े तो आगे की सब ऋतुयें भी सब विषम हो जाती हैं। जिससे अकाल और मारी आदि की नौबत आ जाती हैं तो सूर्य भी बारहों महीना इस जगत के उपकार के लिए प्रवर्तता है। वहाँ भी यह समझिये कि जीवों के पुण्य का उदय है उनका धर्म अस्तित्व में है तो ये भी उपकार के कारण बन जाते हैं। मुख्यता इस पर नहीं देना है, अपने धर्म और पुण्य को महत्त्व देना है। धर्म है तो सभी लोग उपकारी बन जाते हैं और अपने में अधर्म हैं, दुराचार हैं, पाप की प्रवृत्ति रखते हैं, दूसरों का अकल्याण करते हैं तो यहाँ के लोग भी, जनता भी, पड़ोसी भी हमसे विमुख रहेंगे। वहाँ भी उपकार हमें नहीं मिल सकता।

**चन्द्र व समुद्र द्वारा उपकार—**चन्द्रमा का भी बड़ा उपकार है। मान लो सूर्य-सूर्य ही चौबीसों घंटा रहे, चन्द्र का उदय न आये, चन्द्र की शीतल किरणों का समय-समय पर सम्मिलित न हो तो भी सही व्यवस्था नहीं रह सकती। वहाँ भी यह बात लाओ कि हमारा चन्द्र भी उपकारी तब होता है जब हममें स्वयं धर्म हो पुण्य हो। पृथ्वी का भी बड़ा उपकार है, समुद्र का भी बड़ा उपकार है। समुद्र का तो यह उपकार है कि जितनी भी वर्षा होती है उसका मूल कारण समुद्र है। वहाँ से भाप उठी आसमान में फैली, फिर वह इकट्ठा होकर समय पर बरसती है और वर्षा से कितना अधिक उपकार है? एक ऐसी किंवदन्ती है कि एक बार होली ने राखी को निमंत्रण किया। ये पर्व होते हैं एक अलंकार की बात है। होली या राखी कोई देवी या मनुष्य नहीं है तो जब राखी होली के यहाँ पहुँची तो होली के दिनों में कितने हर्ष का शोर रहता है। मकान साफ, वातावरण साफ, न ठंड न गर्मी, लोग खूब मौज से रहते हैं। और अब राखी ने होली को निमंत्रण किया तो होली आयी तो देखा कि कहीं गंदी नाली हैं, कहीं कीचड़ है। सावन के राखी के दिनों में यही होता है। तो होली नाक सिकोड़े। राखी ने सोचा कि होली ने हमारा अपमान किया, तो सोचा कि हम होली से बदला लें। अब अगले वर्ष पानी न बरसा, राखी ने मानो पानी न बरसाया, फिर होली के यहाँ राखी गयी तो वहाँ सारा मामला खराब। जब उपज नहीं तब वह चैन कहाँ से आये? समझिये कि वर्षा का कितना उपकार है?

**इन्द्रादिकों द्वारा उपकार—**इन्द्र से महापुरुषों से किसी से जितने भी जो कुछ उपकार हुए हैं वह सब हमारे पुण्य का प्रताप है। अतएव यदि दुनिया से लाभ चाहिए तो अपने को धर्मात्मा बनाओ, पुण्य के कार्य करो, पाप के कार्य मत करो। दूसरों को न सताओ, किसी की जान न लो, झूठ न बोलो, चोरी न करो, कुशील न करो और परिग्रह की तृष्णा न बनाओ। एक प्रभु की भक्तिपूर्वक लोगों की उपकार करके अपना जीवन बिताएँ तो इस भव में भी आनन्द मिलेगा और आगे भी आनन्द होगा।

## श्लोक-206

मन्येऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रमः।

जीवलोकोपकारार्थं धर्म एव विजृम्भितः॥206॥

**लोकपालों द्वारा उपकार**—इस लोक व्यवस्था में जो बड़ी-बड़ी व्यवस्थाएँ हैं, राज्य अच्छा हो, राजा भी नीतिवान् हो अथवा अपने एक रक्षक अधिकारी का अपनी ओर प्रेम हो आदिक जितने भी ये बड़े पुरुषों के द्वारा होने वाले लोकोपकार हैं उनके रूप से मानो यह धर्म ही निर्विघ्न रूप से फैला हुआ है। राजा प्रजाजनों को निरखकर जो अपना आनन्द भाव बनाता है वह राजा का पुण्य है और राजा के उस पुण्य फल में सब प्रजाजन कारण बने हैं और हम प्रजाजन जिस राजा के राज्य में रहकर सुख से धर्म साधन करते हैं, सुखपूर्वक रहते हैं वह हम सबका पुण्यफल है और उसमें कारण राजा है।

**जीवों का पारस्परिक उपकार**—जीव-जीव परस्पर में उपकारी हैं, कोई यहाँ निर्णय रखे कि मैं दूसरे जीवों को पालता हूँ, मैं करने वाला हूँ, सो यह सोचना गलत है कोई किसी को पालता नहीं है, सबका अपना-अपना पुण्य है जिसके साधन से सब अपनी-अपनी रक्षा पाते हैं। एक मालिक मील चलाता है जिसके हजार नौकर काम करते हैं। उस प्रसंग में मालिक का यह सोचना गलत है कि मैं इन हजार आदमियों को पालता हूँ, इनकी आजीविका लगाता हूँ। यदि इसके बजाय कोई यह कहने लगे कि ये हजार आदमी इस मालिक को पालते हैं और इसकी आजीविका बनाये है तो कुछ बात गलत है क्या? अरे मालिक का निमित्त पाकर वे हजार आदमी पल रहे हैं तो उन हजार नौकरों का निमित्त पाकर यह मालिक भी पल रहा है। पुण्य के फल में एक दूसरे के निमित्त बना करते हैं।

**किसी से घृणा करना दुर्गति का प्रभाव**—यह भी सोचना गलत होगा कि हम अपने से किसी छोटे को देखकर यह भाव बनाये रहें कि यह मेरे किस काम का है, बेकार है, व्यर्थ का है। मैं इतना काम करता हूँ, लोगों के काम आता हूँ, इसका भी मैं रक्षण करता हूँ यह सोचना भी गलत है। संसार में वास्तव में न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। वह कल छोटा हो सकता है लोक परिवर्तन में अर्थात् मरण होने पर तो एकदम ही पलट हो जाती है। मानो कोई आज राजा है और उसका कर्म अच्छा नहीं है तो मरकर कीड़ा बन जाय, सूकर, गधा बन जाय। जीव वही है जो पहिले हजारों नगरों पर राज्य करता था और 10 ही मिनट बाद क्या स्थिति हो गयी? कीड़ा बनकर रेंग रहा है जिसका कुछ महत्व नहीं है, जो आज कीड़ा है, सूकर स्वान है कहो वह मरकर राजघराने में जन्म ले। तो यहाँ किसे छोटा और किसे बड़ा मानते हो?

छोटों से भी परोपकार की संभावना—दूसरी बात यह है कि कभी ऐसी घटनाएँ होती हैं कि छोटा भी आपके प्राण बचाने के काम आता है। तो इस संसार में दूसरे जीव की स्थितियों को निरखकर किन्हीं को छोटा समझना अपने को बड़ा समझना और अहंकार करके अधर्म को पुष्ट करना यह विवेक नहीं है। बच्चों की किताबों में एक कथा आयी है कि एक जंगल में सिंह रहा करता था। सिंह जब कुछ सोया हुआ सा आराम करता हुआ पड़ा रहता था तो एक चूहा सिंह के ऊपर से निकल जाये। सिंह की नींद खुले और उसे बड़ा गुस्सा आये, लेकिन वह चूहा तो जल्दी भाग जाया। दसों बार चूहे ने हैरान किया। एक बार सिंह की पकड़ में चूहा आ गया तो पंजे तले दबा हुआ चूहा कह रहा है कि ऐ वनराज ! तुम मुझे छोड़ दो। तो वनराज कहता है कि तूने मुझे बहुत हैरान किया। तू इतना तुच्छ कीट जो किसी के काम नहीं आ सकता और परेशान कर रहा है। तो चूहा बोला वनराज अबकी बार मुझे छोड़ दो, मैं भी कभी तुम्हारी जान बचाने के काम आऊँगा। तो सिंह ने यों ही हँसकर तुच्छ समझकर कि यह हमारी क्या जान बचायेगा छोड़ दिया। एक बार एक शिकारी के जाल में वही शेर फँस गया। अब वह शेर परेशानी में पड़ा हुआ है, थोड़ी ही देर बाद शिकारी आ गया और अब भाले मारकर मार डालेगा, ऐसी स्थिति उस सिंह की थी। उस समय सिंह बड़ा रुदन करता है। हाय ! मैं ऐसा वन का राजा और इस मामूली जाल के फंदे में फँस गया हूँ। इतने में वह चूहा आया और उस सिंह को दुःखी देखकर सिंह से बोला, ऐ वनराज घबरावो मत। हम तुम्हारी जान बचायेंगे। तो चूहे ने उस जाल को कुतर-कुतरकर काट दिया और सिंह वहाँ से निकल गया। कथानक में यह बात सिखायी गई है कि किसी को छोटा मानकर अनादर मत करो।

जीवों में स्वरूपसाम्य के अवलोकन का प्रभाव—प्रथम तो तुम्हें किसी का अनादर करने का अधिकार नहीं है। तुम भी जीव हो, जगत के सभी जीव हैं। जैसा तुम्हारा स्वरूप है वही स्वरूप सब जीवों का है? तुमने आज यह पर्याय पायी है तो यह भी विकार पर्याय है, अन्य जीवों ने जो पर्याय पायी है वह भी विकार पर्याय है, इसमें दूसरा कहाँ कम है? और, पर्यायदृष्टि से यदि कोई हीन परिस्थिति का हो, हीन शरीर का हो तो इस शरीर का क्या विश्वास, आखिर शरीर तो शरीर है। इस ऊपरी भेद से भेद मत मानो सब जीवों के उस सहजस्वरूप को निरखो जिसमें तुम्हें निराकुलता हो। तुम्हें आनन्द आये वह काम करना युक्त है। तुम्हारी शान्ति तब कायम रह सकती है जब तुम समस्त जीवों के उस सहजस्वरूप की निरख कर लो, जो सबमें एक समान है, फिर तुम्हें न राग, न द्वेष, न मोह कोई भी न सतायेगा। मोह कब उत्पन्न होता है? जब जीव के स्वरूप में भेद डाला हो और दृष्टि में तब यह मोह करता है। यह मेरा है। ऐसा मोह अन्तर से कब होता है? जब जीव-जीव में भेद डाल दिया जाता है। मेरा तो सब कुछ यही है, इस तरह जब जीव-जीव में भेद डाला जाता है तब मोह उत्पन्न होता है। यदि सब जीवों का स्वरूप एक समान विदित हो जाय तो फिर वहाँ मोह का कहाँ अवकाश है? यह भी वही है। मोह तो वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ जीव-जीव में भेद नजर आता है। है तो मेरा यह और तो सब गैर हैं।

**भेदव्यवहार में राग**—किसी में राग कब उत्पन्न होता है? जब सब जीवों का स्वरूप एक समान है यह दृष्टि में नहीं रहता है। अन्य जीवों से उपेक्षा हुए बिना किसी एक जीव में राग नहीं बनता। यदि किसी दो एक पुरुषों में राग किया जा रहा है तो वहाँ और से उपेक्षा है तब राग किया जा रहा है। और यह बनावट क्यों हुई है? अन्य जीव से उपेक्षा होना और इन एक दो जीवों में राग होना यह स्थिति तब बनती है जब जीव के स्वरूप में भेद डाला जाता है। जहाँ यह प्रकाश हो कि समस्त जीव एक समान स्वरूप के हैं वहाँ अन्तरङ्ग से किसी जीव पर रागभाव न उत्पन्न होगा। सब एक समान हैं। जगत के सभी पदार्थ स्वतंत्र हैं, किसी पदार्थ का गुण परिणमन कुछ भी चीज किसी अन्य पदार्थ में नहीं पहुँचती।

**अपनी-अपनी चेष्टायें**—दो पुरुष यदि एक दूसरे से प्रेम रखते हैं तो वहाँ यह बात नहीं कि एक पुरुष दूसरे से प्रेम रखता है और वह उसमें प्रेम रखता है। कोई किसी से प्रेम कर ही नहीं सकता। किसी का प्रेम किसी दूसरे में पहुँचता ही नहीं है। वहाँ बात यह हो रही है कि वह मनुष्य अपनी कल्पना करके उसके प्रति इस ढंग का विचार करता है कि वह खुद प्रेम से भर जाता है। दूसरा पुरुष भी इस प्रकार का ढंग का विचार करता है कि वह दूसरे का ख्याल बना-बनाकर अपने आपमें अपने प्रेम विकार को कर जाता है। कोई किसी पर प्रेम कर भी सकता है क्या? कितना भी घनिष्ट सम्बंध हो, माता पुत्र का ही घनिष्ट सम्बंध क्यों न हो, पर माँ पुत्र पर प्रेम नहीं करती और पुत्र माँ पर प्रेम नहीं करता। अपनी-अपनी कल्पनाओं से एक दूसरे की सूरत निहार-निहारकर खुद अपनी प्रीति के विकार से भाररूप हो जाते हैं। कोई किसी से प्रेम कर ही नहीं सकता। सब न्यारे-न्यारे हैं। अपने-अपने अधिकारी हैं। अपनी करनी अपनी भरनी। सबका जुदा-जुदा समाचार है।

**सुख का पुण्य के साथ सम्बन्ध**—कोई जीव किसी दूसरे का कुछ नहीं करता है। किन्तु पुण्य का ऐसा निमित्तनैमित्तिक मेल है कि एक जीव दूसरे जीव के सुख का कारण बन जाता है। सुख कोई किसी को देता नहीं है। सुख तो जीव अपने ही भावों से अपने में पाते हैं। उस भाव के बनने में दूसरे जीव विषयभूत हैं, निमित्त हैं, इस कारण लोकव्यवहार में यों कहा जाता कि एक जीव दूसरे को सुख देता है, दुःख देता है। वास्तविकता तो यह है कि हम अपनी जैसी भावना बनाते हैं वैसा ही फल प्राप्त करते हैं, वैसा ही हमारा परिणमन होता है। तो यह सब पुण्य का निमित्तनैमित्तिक मेल है। यहाँ कर्तव्य बुद्धि मत अपनाओ। अपने को वैसा ही समझो जैसे सभी जीव हैं सब स्वतंत्र हैं। ऐसी जीवों की समानरूपता निरखकर अपने धर्म भाव को पुष्ट कीजिए। धर्म का यह प्रताप है कि यह जीव इस लोक में भी सुखी रहता है और भविष्य में भी सुखी रहेगा। सुख के सभी साधन धर्म से बनते हैं। समस्त लौकिक सुख ऐश्वर्य समृद्धि होना यह सब धर्म का ही प्रताप है।

## श्लोक-207

न तत्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्तयोर्निबन्धनम्।

प्राप्यते धर्मसामर्थ्यान्न यद्यमित मानसैः॥207॥

**संयमी जनों को सर्वसमृद्धिलाभ—**जिसने अपने मन को संयत बनाया है, अपने मनोभावों पर संयम किया है उस पुरुष को लोक में कोई भी चीज अलभ्य नहीं है, शान्ति के सभी साधन प्राप्त होते हैं। जिसको जगत के किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं है

उसको सब चीजें प्राप्त होती हैं, इस बात को दो पद्धतियों से समझें, प्रथम तो जो पुरुष रागद्वेष मोह से दूर रहता है वह विशुद्ध होता है। उसके ऐसा पुण्य का बंध होता है कि पुण्य का उदय में अनेक तरह की समृद्धियाँ हाजिर हो जाती है। एक शंका की जा सकती है कि सुख समृद्धियाँ तो बहुत तरह की हैं, सब इसके पास कैसे पहुँचती हैं। तो उसका उत्तर एक यह लें कि जितनी उसकी कामनाएँ हैं उतनी समृद्धि उसके पास आ जाती है। दूसरी पद्धति में यह अर्थ समझो कि जिसको किसी वस्तु की चाह ही नहीं है उसे निराकुलता है, और जिसको निराकुलता है उसको सब कुछ मिल गया। कुछ भी चीज पास नहीं है इस पर दृष्टि न दें किन्तु उसके निराकुलता है, ज्ञान है, शान्ति है, इस पर दृष्टि दें। जिसने समस्त रागद्वेष मोह का त्याग कर दिया है, केवल शुद्ध निज ज्ञानस्वरूप के ध्यान में ही लीन रहा करता है उस पुरुष को सब कुछ मिल गया। अब क्या चाहिए?

**विशुद्ध ज्ञान में अकर्तृत्व—**सिद्ध भगवान को परमात्मप्रभु को कृतकृत्य कहा है। जिसने समस्त कृत्य कर लिया उसे कृतकृत्य कहते हैं। काम वह एक भी नहीं करते और कहा गया कृतकृत्य, जिसने सारे काम कर लिये। तो अर्थ यह है कि ज्ञान का जहाँ शुद्ध विकास है वहाँ बस ज्ञान परिणमन ही रहा करता है। उन्हें बाहर में कुछ करने को हुआ ही नहीं करता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बाहर में कुछ करने को तो किसी को भी नहीं पड़ा, मोही जीव भी बाहर में कुछ नहीं किया करता लेकिन कल्पनाओं में तो माना है इसलिए उसे कर्ता कहा गया है। वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कर्ता नहीं होता लेकिन मोही जीव ने अपनी कल्पना में तो कर्ता मान लिया। बस कर्तृत्व की कल्पना मिट जाने का नाम ही अकर्ता है। वस्तुस्वरूप की ओर से देखो तो प्रत्येक जीव अकर्ता है। कोई किसी का कुछ करता नहीं है। तो जिसके किसी भी परवस्तु की इच्छा नहीं है, जो किसी भी परपदार्थ में कुछ परिणमन करने की उत्सुकता नहीं रखता उसने सब कुछ कर लिया। यह बात वहाँ ही ठीक बैठती है जिसको कुछ करने को नहीं रहा। या इसे पर्यायवाची शब्द समझिये, जब करने को कुछ नहीं रहा उसी का अर्थ है सब कुछ कर लिया।

**कार्य समापन का उपाय—**भैया ! करने-करने से काम समाप्त नहीं होता। कुछ करने को न रहे उससे काम समाप्त होता है। करने-करने के रोग में तो सारी जिन्दगी गुजर जाती है। जैसे कोई बालक है, विद्या पढ़ रहा है कुछ धर्म ध्यान की ओर भी चित्त है तो वह कल्पना करता है कि हम कुछ बड़े हो जायें फिर हम सब दंदफंद छोड़ देंगे। अभी तो हम परतंत्र हैं, माँ-बाप जैसा चाहे रखते हैं हम बड़े हो जायें फिर धर्म करेंगे। बड़ा होता है तो वहाँ कल्पनाएँ जगती हैं अभी कुछ 10-5 वर्ष घर में रहें, अभी शादी हुई है, घर गृहस्थी का सुख देखें बाद में खूब धर्म करेंगे। जब बच्चे भी हो गए, सारा काम बच्चे संभालने लगे तब थोड़ा शौक उमड़ता है कि हम पोते देखें। तो करने का तो ऐसा रोग है कि करने-करने का काम पूरा नहीं हो सकता। करना भी न रहे ऐसे भाव में काम पूरा होता है। अब सोच लीजिए करने का काम पड़ा रहे उसमें शान्ति मिलेगी या जब करने को कुछ नहीं रहा यह आशय बने जहाँ शान्ति मिलेगी? करने को पड़ा रहे कुछ उस कल्पना में शान्ति मिल नहीं सकती। करने को कुछ न रहे इस भाव में शान्ति मिलेगी।

**ज्ञान से ही कृतकृत्यता संभव—**करने को कुछ न रहे, यह बात कर-कर करके मिलेगा क्या? नहीं। ज्ञान से मिलेगी। जब वस्तु के सही स्वरूप का बोध हो कि प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हैं, अपनी शक्ति से है। उसका जो कुछ भी परिणमन होता है उसमें जो भी बात बनेगी वह उसके ही परिणति से बनेगी करने से नहीं। मैं अब भी किसी पर-पदार्थ में कुछ करता ही नहीं हूँ। अपना भाव ही गूँथ रहा हूँ। अपनी कल्पना ही बना रहा हूँ। यह भी मैं किसी पर का कुछ करता नहीं। अपना ही करने वाला हूँ। तो मेरे करने का पर में रखा क्या है? मैं करता ही क्या हूँ? मैं कर ही नहीं सकता। अपने भावों की सृष्टि रचता रहता हूँ। बस यही मेरा कर्तव्य है। जब वस्तु का स्वरूप का भान होता है उस समय यह भाव बनता है कि मेरे करने को कुछ बाहर में नहीं पड़ा और वही एकाग्र बन सकता है। वही ध्यान में सफल हो सकता है जिसको यह निर्णय पड़ा हो कि मेरे करने को कुछ नहीं पड़ा है।

**चित्त की अस्थिरता का कारण—**जो धर्म में, जाप में मन नहीं लगता। मन स्थिर नहीं होता, जगह-जगह मन डोलता रहता है उसका कारण क्या है? चित्त में यह बात बसी हुई है कि मेरे करने को यह काम पड़ा है। इस बात के बसने के कारण चित्त अपने में एकाग्र नहीं हो पाता। मूल बात यह है। और यह बात सब जगह घटित होती है। कोई माही जीव है उसका धर्म में मन नहीं लगता तो वहाँ भी यही कारण है। किसी ने घर त्याग दिया और घर त्यागने पर भी यदि मन नहीं एकाग्र होता तो उसका भी यही कारण है। वह घर के काम में तो करने का संकल्प नहीं करता किन्तु वहाँ जाना, यह करना, अब अमुक भाषण करना, अमुक धर्म साधन करना, ये तक भी चित्त को एकाग्र नहीं रहने देते।

**शुद्ध दृष्टि से धर्म की प्राप्ति—**तो जब शुद्ध दृष्टि होती है वहाँ जो धर्म भाव उत्पन्न होता है। उस धर्म में यह सामर्थ्य है कि इसे सब शान्ति के साधन अपने आप प्राप्त होते हैं ऐसा कोई भी साधन नहीं है जो

धर्मात्मा जीव को प्राप्त न हो सके। धर्म में ऐसी सामर्थ्य है कि भावना करने से धर्म में रुचि जगती है और जितने भी सुखसाधन शान्ति साधन मिलेंगे वे सब धर्म के प्रताप से ही मिलेंगे।

## श्लोक-208

नमन्ति पादराजीवराजिकां नतमौलयः।

धर्मैक शरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वराः॥208॥

**धर्ममूर्ति का सन्मान**—जिनके चित्त में एक धर्म ही शरण है उनके चरण कमलों को बड़े-बड़े इन्द्रादिक भी नतमस्तक होकर नमस्कार करते हैं। सोलह कारण भावना भी धर्म के रूप हैं। जो पुरुष उन सोलह भावनाओं को भाता है उस सम्यग्दृष्टि पुरुष के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। और जैसे-जैसे उस तीर्थंकर प्रकृति का उदय होगा यद्यपि उदय होता है, 13 वें गुणस्थान में भगवान होते हैं, अरहंत होते हैं, केवल ज्ञानी होते हैं तब तीर्थंकर का उदय कहलाता है। साक्षात् दिव्य देशना दिया करते हैं किन्तु उस भव में जन्म लेने से 6 महीना पहले से इन्द्र उनकी भक्ति में रत्नवर्षा कराता है। यह सब किसका महात्म्य है? धर्म का।

**धर्म का महत्व**—धर्म और अधर्म इन दोनों को यदि एक तराजू के दोनों पलड़ों पर तौला जाये तो आपकी निगाह से किसका पलड़ा भारी होना चाहिए? धर्म का। अर्थात् अपने जीवन में महत्व धर्म को देना चाहिए, धन को नहीं। क्योंकि धन तो धर्म वाले का सेवक होकर आगे-आगे आता है। धन को क्या कोई हाथ पैर कमाते हैं? आपसे बढ़िया-बढ़िया हाथ पैर तो सैकड़ों हजारों पुरुषों के हैं, पर धन से हीन भी देखे जाते हैं। धन आता है तो यह सब धर्म का फल है, और ओह सच बात तो यह है कि जो धन को न कुछ मानता है उसे तृणवत समझता है उससे बढ़कर धनी कोई नहीं है। लेकिन लोकव्यवहार की दृष्टि से धन की चर्चा की जाय तो धन वैभव का समागम भी धर्म का प्रसाद है। इसलिए धर्म की शरण कभी न छोड़ो, ये तो तीर्थंकर देव जब इनका जन्म होता है तो 6 महीने पहिले रत्नों की वर्षा नगर में होती है। और यदि कोई नरक में है यह जीव जिसे तीर्थंकर होना है तो ऐसा जीव तीसरे नरक तक पाये जाते हैं कि जो वहाँ से निकलकर तीर्थंकर तक होंगे। तो जन्म लेने से 6 महीना पहिले यहाँ भूलोक में तो रत्नवर्षा होती है और नरक में एक कोट रचा जाता है जिसके अन्दर वह नारकी जीव जिसे तीर्थंकर होना है स्वरक्षित रहता है जिससे कोई सता न सके। प्रथम तो जितने भी तीर्थंकर पुरुष हुए हैं वे सब ऊर्ध्व लोक से आकर हुए हैं, स्वर्ग से। उसके ऊपर से विमानों से, पर कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो नरकगति से आकर तीर्थंकर हुए हों। नरकगति में तो पाप धुलते हैं। जो पाप पहिले कमाये हैं उन्हें धुलने का यह स्थान है। यहाँ यदि कोई जीव सम्यग्दृष्टि है तो वह पापों को धोकर निरखकर आता है और यदि मिथ्यादृष्टि है तो वह भी पापों को बाँधता है और, वह

मरकर मनुष्य होता है या तिर्यञ्च होता है। नारकी जीव मरकर तुरन्त नारकी नहीं हो सकता ऐसा नियम है और देव भी मरकर तुरन्त देव नहीं होता, नारकी मरकर तुरन्त देव नहीं होता। देव मरकर तुरन्त नारकी नहीं होता। तो मिथ्यादृष्टि नारकी वहाँ पाप ही बाँधता है। सम्यग्दृष्टि नारकी वहाँ पापों को धोकर निरखकर आता है। तो जिसने सोलह कारण भावनाएँ भाई और तीर्थकर प्रकृति का बंध किया वह तीर्थकर होने पर या जन्म लेने पर ही इन्द्रादिक बड़े-बड़े महापुरुष उनके चरणों में नमस्कार करते हैं, यह सब धर्म का प्रसाद है।

**धर्मों की आपत्ति में रक्षा सुयोग की अचिन्तित संभावना—**कोई पुरुष समर्थ हो जिसे यह आशा है कि हम जिसको जिस प्रकार चलायेंगे, जिसको जिस प्रकार बाँधेंगे, मारेंगे उस प्रकार मरेगा ऐसे किन्हीं पुरुषों के द्वारा कोई सताये गए हों तो भी उनके यदि धर्म है तो पता नहीं कैसे घटनाएँ बन जायें, उपद्रव भी आ जायें, पर वे उपद्रव उनके उत्सव बन जाते हैं। श्रीपाल राजा को धवल सेठ ने समुद्र में गिरा दिया था जहाँ से बचने की आशा न थी, लेकिन धर्म का प्रसाद है कि वह भुजबल से तिरकर आया, उसमें ऐसी सामर्थ्य हो गयी और समुद्र के किनारे जब लगा तो उस नगर के राजा ने सिपाही छोड़ रखे थे कि कोई तिरकर आये तो उसे हमारे पास लाना। श्रीपाल को सिपाही राजा के पास ले गए तो राजा ने उसका सम्मान किया, आधा राज्य दिया और अपनी कन्या विवाही। तो उपद्रव की घटना भी पुण्यवंत पुरुषों के समारोह का कारण बन जाती है। तब फिर धन से क्या झूरना, धर्म में चित्त लगाना चाहिए। धन के सोच में धन बढ़ता नहीं है। वह तो जो बढ़ता है सो बढ़ता है। वह सब धर्म का प्रसाद है।

**वीतरागता का आकर्षण—**तीर्थकर पुरुष जन्म समय में इन्द्रों द्वारा पूजे गए। तपश्चरण करने पर तो मुनीश्वर देव भी पूजे गए और केवलज्ञानी बनने पर तो सबके द्वारा पूजे ही जाते हैं। कितना धर्म का प्रताप है। तीर्थकर प्रभु का विशाल समवशरण रचा जाता है, कैसी अद्भुत रचना कि वैसी मनुष्यों द्वारा नहीं की जा सकती। वह समवशरण देवों के द्वारा ही रचा गया है। उस बड़े सुसज्जित अनेक कोट अनेक वेदिका अनेक रचनाओं के बीच 12 सभाओं के बीच मध्य कोट में कमल पर सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान तीर्थकर प्रभु के निकट चारों ओर से देवी देवताओं का समूह नाचगान करता हुआ आता है। उस दृश्य को थोड़ा हृदय में लायें तो इस भावना के कारण कि यह सब तीर्थकर का ठाठ है। एक अद्भुत भक्ति उत्पन्न होती है। कितने आश्चर्य की बात है कि राग में वह ठाठ नहीं बन सकता जो ठाठ वीतरागता में बनता है।

**वीतरागता का महत्त्व—**वीतराग को कुछ न चाहिए मगर उतना ठाठ उतना साज किसी रागी पुरुष के नहीं बन सकता है। यहाँ ही देख लीजिए जो वीतरागता की प्रकृति बनाये हैं ऐसे पुरुषों के चाहने वाले लोग कितने हैं? बहुत हैं। जो धन से अपना घर भरते हैं, किसी तरह किसी मेम्बरी में आ गए, कोई अधिकारी बन गए तो घर भरा करते हैं ऐसी आदत जिनकी है उनके प्रति लोगों का सम्मान रहता है क्या? और जो-जो भी नेता बहुत ऊँचे भाव में माने गए हैं उनमें यह एक बात मुख्य भी थी कि अपने लिए उन्होंने धन संचित नहीं

किया। स्वयं एक साधारण मनुष्य की तरह फक्कड़ रहे। देश के उपकार में लोगों को उस जाति की वीतरागता विदित हुई ना, इसलिए वे बड़े माने गए। धर्म भी वीतरागता ही है और यह धर्म जिनके चित्त में समाया है उनके चरण कमलों को इन्द्र भी नतमस्तक होकर नमस्कार करते हैं। यह 12 भावनाओं में से धर्मभावना का प्रकरण है। धर्मभावना में धर्म की महिमा की भावना करना चाहिए। जैसे अपना धर्म की ओर रुचि जगे उसी प्रयोजन को लेकर इस प्रकरण में धर्म का माहात्म्य बताया जा रहा है।

### श्लोक-209

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः।

अनाथवत्यलः सोऽयं संत्राता कारणं बिना॥209॥

**स्वयं के धर्म की ही शरण**—इस प्राणी को धर्म के सिवाय अन्य कुछ शरण नहीं है। बहुत-बहुत घटनाओं को तो समझ लिया होगा कि हम आपका इस जगत में दूसरा कोई शरण नहीं है। यदि कदाचित् कोई अपना शरण बना, अपना मित्र बना, हितकारी बना तो उसमें भी समझना कि अपने सदाचार के कारण अपनी सभ्यता के कारण दूसरा पुरुष सहाय बना। दूसरा कोई सहायक बनता है तो वह यों ही नहीं बन जाता। जो जीव सदाचारी है, धर्मात्मा है, परोपकारी है, कुछ गुणी है उसके कारण लोग सहायक बनते हैं। पुण्यहीन का सहायक भी लोकव्यवहार में कोई बनता नहीं है तब समझिये कि धर्म ही हमारा शरण सहाय रहा। धर्म ही वास्तव में हमारा गुरु भी है। जिसको धर्म के प्रति लगन है यह लगन उसे सत्पथ पर लगाये रहती है। गुरु का काम क्या है कि शिष्य को सत्पथ पर लगाये उसे सत्य रास्ता बताये जिससे वह अहित से दूर हो, हित में लगे। तो यही काम धर्म करता है।

**धर्म का उन्नायकत्व**—हमारे में धर्म की लगन हमको सत्पथ में प्रेरणा देती है। विषय कषायों से अहित के कार्यों से यह धर्म दृष्टि हमें बचाती है। तब हमारा वास्तविक गुरु धर्म है। लोक में हम जिन्हें गुरु कहते हैं, संत कहते हैं, साधु कहते हैं अथवा अपने से बड़ा कहते हैं वे पुरुष कदाचित् किसी कारणवश हमारे विमुख हो सकते हैं और हमें मार्ग दर्शन का कार्य भी वे न करें, वे छोड़ दें, किन्तु मेरा धर्म चाहिए, मैं कहीं होऊँ, कैसी ही अवस्था में होऊँ किन्तु यह धर्म सदा जगाये रहता है, सत्पथ में लगाये रहता है।

**धर्म की ही गुरुता**—तब मेरा वास्तव में गुरु धर्म है। मैं ही अपना श्रद्धान् बनाता हूँ, मैं ही अपना ज्ञान करता हूँ, मैं ही अपने को हित में लगाता हूँ, अतः मैं ही परमार्थ से मेरा गुरु हूँ। चाहे यह कहो कि आत्मा का गुरु आत्मा ही है चाहे यह कहो कि मेरा गुरु मेरा धर्म है। धर्म ही हमें कुपथ से बचाता है और सत्पथ में लगाता है। उस धर्म के लिए अपने आपको न्यौछावर कर दो, अपने आपको मिला दो। यह धर्म अवश्य ही

हम आप सबको कल्याण प्रदान करेगा। मित्र भी यह धर्म ही है। मित्र उसे कहते हैं जो ऐसा स्नेह रखे कि अनेक आपत्तियों से बचाता रहे। मुझे आपत्तियों से बचाने वाला यहाँ कोई परपदार्थ है क्या? यद्यपि किसी के निमित्त से मैं आपत्तियों से बच भी गया होऊँ लेकिन परमार्थ से वह मुझमें कुछ उत्पन्न करे अथवा आपत्तियों से बचाता रहे ऐसा तो नहीं है। मैं ही स्वयं धर्म के प्रसाद से आपत्तियों से बच गया हूँ। तो कोई मित्र मेरे सुख में निमित्त बने, आपत्तियों से रक्षा करने में निमित्त बने तो वहाँ भी मेरे धर्म का प्रताप है वह सब। जैसे लोग कहते हैं कि खुद भले तो जग भला। यदि खुद भले हों तो मेरे लिए सब भले हैं और खुद ही बुरा होऊँ तो मेरे लिए सब बुरे हैं। ऐसे ही समझिये कि हममें यदि धर्म का विकास है तो हमारे सभी मित्र बन सकते हैं और हममें ही धर्म नहीं है पुण्य नहीं है तो कोई मित्र भी नहीं बनता है। सब उदयानुसार बात होती है। भला उदय होने पर अनेक मित्र रहते हैं और खोटा उदय होने पर बड़े पक्के मित्र भी किनारा कर जाते हैं। यहाँ ही देख लीजिए वैभव बढ़ रहा हो तो सब पूछ करते हैं, वैभव घट रहा हो तो फिर कोई पूछ नहीं करता। जब कोई टोटा पड़ गया हो, गरीबी की स्थिति आ गयी हो तो फिर कोई भी साथ नहीं निभाता है। और किसी मित्र के कारण यदि हमें कुछ लाभ मिल रहा हो तो वहाँ भी अपने ही धर्म का प्रताप समझिये। हम आप सबको एक मात्र धर्म ही शरण है। किन्तु।

**मेरा धर्म क्या—**यह भी निरखिये कि वास्तव में मेरा धर्म है क्या? मेरा धर्म है सच्चा ज्ञान उत्पन्न करना और सत्य तत्त्व का श्रद्धान् रखना। अपना आचरण अशुद्ध बनाया, पापों से मलिन, कषायों से युक्त अपना आचरण बनाया, श्रद्धा से भी पतित रहे, आत्महित का ख्याल भी न हो, तो वह जीवन क्या जीवन है। अपने को रागद्वेष मोहादि सर्व विकारों से रहित रखें तो यही है वास्तव में धर्म। इस ओर जो जितना चल सकता है वह उतना धर्म का पालक है। तो मित्र भी हमारा वास्तव में धर्म ही है, जो मुझे कभी दगा न दे सके। जो कभी मुझसे विमुख न हो सके। आप सोचिये धर्म के खातिर पुरुषों ने महिलाओं ने अपने प्राण तक दे दिये। शीलवती सतियों के चरित्र देखिये। कितने उन पर उपद्रव आये, पर वे अपने शील पालन पर ही दृढ़ रही। और प्राण तजने पड़े तो प्राण तज दिये, मगर शील को नहीं खोया। तो बड़े-बड़े पुरुषों ने धर्म के प्रति जो इतनी लगन लगायी तो कुछ बात तो है धर्म में। धर्म का महत्त्व समझिये, धन को महत्त्व मत दीजिए। और यह भी समझ लीजिए कि धन बहुत जोड़कर रख लिया तो वह क्या काम देगा। मरने पर साथ नहीं जाता, बल्कि कभी-कभी यह धन ही प्राणघात करा देता है। तो कौनसी ऐसी खास खूबी है जो इस धन पर इतना मरा जाय।

**धर्म का सच्चा स्वामित्व—**अन्य-अन्य प्रवृत्तियों के मुकाबले में धर्म की बात देखिये। धर्म का यदि परिणाम बना है तो उसी समय में इसे आनन्द है, क्योंकि रागद्वेष रहित परिणाम का नाम धर्म है। तो जहाँ रागद्वेष नहीं है, ज्ञान का सही प्रकाश चल रहा है वहाँ नियम से अनाकुलता है। वहाँ क्षोभ का काम नहीं है। तो धर्म पालन से इस भव में भी निराकुलता मिलेगी और बहुत ही शीघ्र संसार के समस्त संकटों से मुक्त हो

जायेगा यह उसे भावी फल मिलेगा। धर्म का ही वास्तव में शरण सत्य है। धर्म का ही महत्त्व जानो। धर्म की रुचि करो, अपना स्वामी भी धर्म ही है। मेरा मालिक कौन? जिसके हुकुम में हम रहें और जिसके प्रसाद से हमें शान्ति मिले। मेरा ऐसा मालिक कौन है? जगत में कहीं बाहर में दूढ़ों, कोई मालिक नहीं है। वस्तु का स्वरूप भी यही है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें स्वयं स्वतंत्र है। किसी पदार्थ का कोई मालिक नहीं। मेरा मालिक बाहर में कोई हो ही नहीं सकता। मेरा स्वामी मैं हूँ। वह धर्म स्वरूप है अर्थात् मेरा स्वामी धर्म है जो सदा सेवक की नाई मेरी रक्षा करता रहता है। जैसे मालिक मित्र अपने सेवक की रक्षा करता है इसी प्रकार यह धर्म मेरी रक्षा बनाये रहता है। अतः वास्तव में मेरा स्वामी धर्म है।

**धर्म का बन्धुत्व**—धर्म ही वास्तव में मेरा बन्धु है। भाई-भाई की एक अनोखी प्रीति होती है। बिरला ही कोई भाई ऐसा होता है जो परस्पर में एक दूसरे से विपक्षी हो जाता है, उस प्रतिपक्ष और विरोध होने का कारण भी विषयों के साधन स्नेह है। विकार भाव में बह गए इसलिए विद्रोह करते हैं अपने ही भाई से, पर कहते हैं ना लोग कि कभी कोई पुत्र गुजर जाय तो कुछ परवाह नहीं। और पुत्र हो जायगा, किन्तु भाई बिछुड़ गया तो भाई कहाँ से लायेंगे। इतनी भाई के प्रति प्रीति हुआ करती है लोक व्यवहार में। लेकिन ये लोकव्यवहार के बन्ध भी मुझे धोखा दे सकते हैं, मेरे विरोधी बन सकते हैं पर धर्म एक ऐसा बन्ध है कि जो मेरा विरोधी नहीं हो सकता, मेरे साथ कभी भी कपट नहीं कर सकता। वास्तव में मेरा बन्धु मेरा धर्म ही है और धर्मात्माओं से प्रेम करने वाला ही यह धर्म है।

**धर्म की अनुपम वत्सलता**—हम इस जगत में कर्मों के परवश होकर अनाथ से फिर रहे हैं। इस मुझ अनाथ को किसी का अनुपम प्यार मिले जिससे मेरा कल्याण हो जाय तो ऐसा वत्सल मेरा धर्म ही है। अनाथों की कौन रक्षा करता है? कदाचित् कोई किसी अनाथ की रक्षा भी करे तो वहाँ भी यह बात समझिये कि उस अनाथ की धर्म ने रक्षा करा दिया। तो अनाथ वत्सल भी धर्म है और बिना ही कारण अपने किसी गरज के बिना मेरी रक्षा करने वाला भी कोई है तो वह धर्म ही है। कोई पुरुष समुदाय कभी किसी की रक्षा करता है तो कोई गरज रहती है तब वह रक्षा करता है। बिरले ही कोई संत ऐसे हैं जो बिना किसी गरज के दूसरे की रक्षा करते रहते हैं। पर प्रायः संसार में ऐसे पुरुष मिला नहीं करते। अत्यन्त बिरले ही होते हैं। मिलते हैं किन्तु कम। लेकिन गरज साधकर दूसरे के काम में सहायक बनने वाले बहुत हैं किन्तु यह धर्म किसी भी गरज के बिना किसी भी कारण के बिना हमारी रक्षा करता है। तो सब प्रकार से समर्थ धर्म को समझकर धर्म की ओर रुचि बढ़ायें। मुझे धर्म ही प्यारा है धर्म मुझे करना है, धर्म ही मेरा सच्चा सहारा है, ऐसा जानकर सर्वप्रयत्न पूर्वक एक धर्म में ही रुचि करें।

## श्लोक-210

धत्ते नरकपाताले निमज्जगतां त्रयम्।

योजयत्यपि धर्मोऽयं और व्यमत्यक्षमङ्गिनाम्॥210॥

**धर्महीन जीव की जघन्यता**—धर्म नरक के पाताल में डूबते हुए इस जगत को आलम्बन देकर बचाता है और जीवों को अतीन्द्रिय सुख भी प्रदान करता है। धर्म की महिमा में उन दो बातों का इसमें वर्णन किया है जो एक तो सबसे नीचे स्थित उससे बचाने की बात है और एक सबसे उत्कृष्ट स्थिति उसके प्राप्त करने की बात है। जीव की सबसे खोटी स्थिति है, यद्यपि निगोद इन तीनों लोकों में सर्वत्र भरा पड़ा हुआ है। लेकिन सब स्थानों में निगोद के अलावा और भी जीव प्रचुरमात्रा में पाये जाते हैं, किन्तु सप्तम नरक के नीचे का स्थान ऐसा है जहाँ निगोद जीवों की ही प्रचुरता है इसलिए निगोद स्थान नरक के नीचे बताया है। वैसे हैं सब जगह निगोद। निगोद का अर्थ है साधारण वनस्पति। 5 स्थावर में अन्तिम नाम है वनस्पति का। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। वनस्पति के 2 प्रकार हैं—एक प्रत्येक वनस्पति व एक साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति तो हरी सब्जी का नाम है और साधारण वनस्पति, नाम तो है वनस्पति उसके नाम कर्म का उदय तो है ऐसा, पर वह हरी सब्जी नहीं है। यह जो खुला आकाश है इसमें भी अनन्त साधारण वनस्पति ठसाठस भरे हुए हैं।

**साधारण निगोद का आस्रव**—साधारण वनस्पति कुछ तो हरी के आधार में रहती है और कुछ निराधार रहती है। जिस हरी के आधार में साधारण वनस्पति रहती है उस हरी को ब्रती लोग नहीं खाते। जैसे आलू, शकरकंद, मूली, लहसुन, गाजर आदि साधारण वनस्पति से सहित हरी वनस्पति हैं और अनन्त साधारण वनस्पति निराधार हैं। ये सब जगह मौजूद हैं इन निगोदिया जीवों का देह बहुत सूक्ष्म होता है। और एक देह के अनन्त निगोदिया जीव स्वामी होते हैं। एक श्वास में 18 बार जन्मते और मरते हैं, ऐसे निगोदिया राशि के सभी जीव प्रारम्भ में निगोदिया जीव थे। जो भगवान बने हैं वे आत्मा भी प्रारम्भ में निगोद में थे और जो आज मनुष्य हैं, वे भी प्रारम्भ में थे। तो निगोद इस जीव की आदि स्थिति है और इस जीव की अन्तिम स्थिति है यह अतीन्द्रिय सुख का स्थान मोक्षा। तो निगोद और मोक्ष दोनों का संकेत इस श्लोक में है।

**धर्म से निगोद का छुटकारा**—यह धर्म निगोद से तो बचाता है और मोक्ष में पहुँचाता है। आदि और अन्त की बात कहने के बीच की सब महिमा अपने आप आ गयी। इस लोक में जितना वैभव है, जितनी समृद्धियाँ हैं वे सब धर्म के प्रताप हैं। तो यह धर्म नरकों के नीचे जो निगोद स्थान है उसमें पड़ने से बचाता है, अर्थात् निगोद से हम आप तो निकल आये हैं और अनेक विकलत्रयों की योनि को भी पार करके आज

मनुष्य हैं। यह सम्भव है कि हमारी करनी ठीक न रहे, हम आत्मा को न संभाल सकें, अपना सुधार न कर सकें तो पुनः उसी निगोद में जा सकते हैं। फिर हम निगोद में न पहुँचे, इसके लिए यत्न है धर्म का। इस धर्म के प्रताप से यह जीव निगोद स्थान से बच जाता है। निगोद से तो निकल आये और अनेक कुयोनियों को पार कर करके आज मनुष्य हुए हैं। मनुष्य में बुद्धि देह का बल और सम्पन्नताएँ इन्द्रियाँ सब समर्थ हैं।

**विषयों से विरक्ति ही सुख का लाभ**—इस स्थिति में यदि विषयों से ही प्रेम रखा, पशुवृत्ति ही बनायी तो इसका फल फिर कुयोनियों में जाना है। यहाँ संभाल गए तो फिर संभाल के बाद उत्तरोत्तर संभाल बढ़ती जायेगी और इस मनुष्यभव में भी संभाल बढेगी। इस भव के बाद जिस भव में जायेगा वह संभाले तो संभाल शुरू होना चाहिए और उस संभाल की संभाल भी बनी रहना चाहिए। फिर उत्तरोत्तर संभाल होते-होते यह जीव इस उत्कृष्ट हृद में पहुँच जायेगा जिसमें अतिन्द्रिय आनन्द बरसता है। यह सब इस धर्म का प्रताप है कि अत्यन्त निम्न स्थान से निकलकर यह जीव अत्यन्त उत्कृष्ट मोक्ष स्थान में पहुँचता है। धर्म के सिवाय अन्य किस पदार्थ में, अन्य किस पुरुष में ऐसी सामर्थ्य है जो उसे दुःख से छुटाकर सुख में पहुँचा दे। किसी में भी ऐसा प्रताप नहीं है, ऐसे प्रताप की तो बात दूर रही, उल्टे एक प्रेम के साधन बनाकर अथवा नहीं अन्य पदार्थों को अपने विषय का साधन बनाकर कल्पनाएँ करके रागद्वेष मोह करके उल्टा और कुगति में बढ़ता जाता है। किसी भी बाह्य पदार्थ का सहारा नहीं है। वह तो गिरते हुए को और गिराने का साधन है।

**अनादिकालीन विषयों में झुकाव ही दुःख का मूल**—प्रथम तो यह जीव ही अनादि काल से विकारों में बसता चला आया है। इसकी प्रकृति विकारों की ओर चैन मानने की पड़ गई है। विषय साधन मिले बिना इसे चैन नहीं होती। विषय साधन मिलने पर क्षुब्ध हो जाता, आकुलित भी हो जाता और चैन भी मानता जाता है। ऐसी विकट स्थिति है इस संसारी जीव की। तो एक इस जीव की प्रकृति ही विषयविकार की ओर झुकने की है और फिर मिल जायें ये पुण्य के फल विषय साधन, बाह्य पदार्थ प्रेमपात्र तो ये और अधिक ढकेलने में सहायक होते हैं।

**धर्म की देन**—इस जीव को दुःख से बचाने में समर्थ एक धर्म ही है। संभालने को धर्म का स्वरूप कहा है। जो संसार के दुःखों से छुटाकर उत्तम सुख में पहुँचाये उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म का ही प्रताप है जिसके प्रताप से यह जीव निगोद जैसी खोटी योनियों से निकलकर मोक्ष जैसे उत्तम पद में पहुँचता है। तो जैसे सर्वाधिक निम्नदशा निगोद की है ऐसे ही सर्वोत्कृष्ट आनन्द की दशा मोक्ष की है।

**शरीर राग ही दुःख का कारण**—यह शरीर, ये कर्म ये सांसारिक समागम दुःख के कारण बनते हैं। कल्पना करो कि यह मैं जीव जैसा अपने स्वरूप से हूँ अर्थात् अपने ही सत्त्व के कारण जैसा इस मुझमें स्वभाव पडा है। मैं केवल उसही स्वभावरूप रहूँ, अकेला रहूँ। सब लेपों से अलग रहूँ तो इसको फिर कौनसा क्लेश है? जन्म-मरण का क्लेश तो इस अकेले को है नहीं, जो मेरा स्वयं सहज स्वरूप है उस स्वरूप में

जन्म और मरण का क्लेश है। जहाँ जन्म न हो, शरीर न मिले वहाँ सारे क्लेश दूर हो गए। इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग सारे वियोग, लोगों के द्वारा सन्मान अपमान आदिक जितनी विडम्बनाएँ हैं वे एक भी नहीं रहती हैं। तब समझ लीजिए कि मैं केवल जो हूँ वही रहूँ उसमें कितना आनन्द बसा हुआ है? दुःख का नाम नहीं है, अनन्त आनन्द है। मैं हूँ नहीं ऐसा। पर स्वरूप अवश्य ऐसा है। जो सिद्ध भगवान जिस प्रकार विराजमान हैं उनकी जो स्थिति है वह स्थिति नहीं है हम आपकी, किन्तु स्वरूप वही है। यदि वह स्वरूप न होता तो हम किसी भी उत्कृष्ट आनन्द को न पा सकते और वह आनन्द न मिल सके वह निर्दोष अवस्था न मिल सके, फिर धर्म किसलिए किया जाय? धर्म और सब यह मोक्षपद्धति सबका विनाश हो जायेगा। हममें वह स्वरूप है जो सिद्ध का है। उस स्वरूप को प्रकट करने के लिए हमारा मौलिक यत्न यह होना चाहिए।

**आत्मा की अमौलिकता**—हम अपना स्वरूप समस्त परपदार्थों से भिन्न निरखा करें, मैं देह से भी न्यारा हूँ, और की तो बात क्या कहें समस्त वैभव से तो न्यारा हूँ ही, देह से तो न्यारा हूँ ही, पर मुझमें जो रागद्वेष पक्ष तर्क वितर्क के कल्पनाएँ जगती हैं उन तर्कवितर्कों से भी न्यारा हूँ। ऐसा सबसे न्यारा अपने आपको निरखें तो सबसे न्यारा हो सकता है। मोक्ष के मायने और क्या हैं? मेरे आत्मा के सिवाय अन्य जिन पदार्थों का विकारों का सम्बन्ध और लेप लगा हुआ है वे सबके सब परपदार्थ और परभाव मुझसे जुड़े हो जायें ऐसी हमारी परिस्थिति बने उस ही का नाम मोक्ष है। तो हम सबसे न्यारा तो रहना चाहते हैं और न्यारे की भावना न बनाएँ तो न्यारा होने की स्थिति पा कैसे सकते हैं। यहाँ माना यों तो करे कि देह मैं हूँ यह मेरा प्रिय देह है। मेरे घर के लोग बड़े विनयशील हैं, आज्ञाकारी हैं, ये मेरे ही तो हैं, इनसे मेरा बड़ा महत्त्व है इस प्रकार पदार्थों में व्यामोह करे और धर्म के नाम पर थोड़ा मन्दिर में आकर या कहीं भी अन्य धर्म कार्य करके मोक्ष की आशा रखें तो यह तो बिल्कुल विपरीत बात है। मोक्ष चाहिए हो तो अन्तरङ्ग में अन्त पुरुषार्थ करना होगा। वह पुरुषार्थ है भेद विज्ञान जितने भी जीव संसार से छूटकर सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान के बल से ही हुए हैं। और जो आज तक रुलते रहे हैं वे भेदविज्ञान के अभाव से रुलते रहे हैं। तो इस एक उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्द पाने के लिए हमारा मौलिक यत्न यह होना चाहिए कि हम जगत के वैभव से शरीर से, तर्क-वितर्कों से, रागद्वेषादिक विभावों से अपने को न्यारा समझें। तो यह भेद विज्ञानरूप उत्कृष्ट धर्म बढ़-बढ़कर जिनके अभेदरूपी धर्म को उत्पन्न करके यह इस जीव को अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करा देगा। यों धर्म का माहात्म्य बताया गया है कि यह धर्म निगोद से निकालकर, बचाकर इस जीव को मोक्ष सुख में पहुँचा देता है।

## श्लोक-211

नरकान्धमहाकूपे पततां प्राणिनां स्वयम्।

धर्म एवं स्वसामर्थ्याद्दत्ते हस्तावलम्बनम्॥211॥

**धर्मी की वैपरीत्य में भी धर्म वत्सलत्व**—यह आत्मस्वभावरूप धर्म की दृष्टि करने वाला धर्मपालन नरकरूपी महान अंधकूप में गिरते हुए जीवों को मानो हस्तावलम्बन देकर बचा देता है। अर्थात् इस धर्म के प्रसाद से यह जीव नरक गति में नहीं जाता है। सम्यक्त्व धर्म है और सम्यक्त्व जिसके उत्पन्न हो जाता है वह कुयोनियों में जन्म नहीं लेता। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के बाद यह मनुष्य यदि किसी आयु का बंध करे तो वह देव आयु का बंध करेगा या मोक्ष जायेगा। सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्व के रहते हुए भी संसार में कुछ रहता है, उसे दूसरा भव धारण करना पड़ता है तो वह देव भी बनेगा या मोक्ष जायेगा। सम्यग्दर्शन के रहते-सहते मनुष्य न तो तिर्यञ्च आयु का बंध करता है न नरक आयु का बंध करता है और न मनुष्य आयु का बंध करता है। हाँ कोई मनुष्य सम्यग्दर्शन से पहिले नरक आयु, तिर्यञ्च आयु या मनुष्य आयु का बंध लगा हो उसके बाद सम्यग्दर्शन हो तो वह नरक में, तिर्यञ्च में और मनुष्य में जीव तो सही पर नरक में जायेगा सम्यग्दर्शन रहते हुए सम्यग्दर्शन से पहिले नरक आयु बाँधने के कारण पहिले नरक में ही जायेगा, इससे नीचे नहीं। तिर्यञ्च में जायेगा तो भोगभूमिया तिर्यञ्च बनेगा, कर्मभूमिया तिर्यञ्च नहीं। मनुष्य में भी जायेगा तो भोगभूमिया मनुष्य बनेगा, कर्मभूमिया मनुष्य नहीं। इसी तरह जो-जो जीव देवगति में है वह देव सम्यग्दृष्टि बन जाये और सम्यग्दर्शन के बाद वह किसी आयु को ही बाँधेगा। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव मरकर मनुष्य ही बन सकेगा, तिर्यञ्च में न जाएगा, नरक में न जायेगा। तिर्यञ्च में सम्यग्दृष्टि हो तो सम्यग्दर्शन के रहते हुए में यदि आयु का बंध करे तो देव आयु का ही बंध करेगा, अन्य आयु का नहीं। इसी प्रकार नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो और सम्यक्त्व के रहते हुए आयु का बंध करे तो मनुष्य आयु का ही बंध करेगा। यह मनुष्यों को समझाया जा रहा है। अतएव यहाँ कहा गया है कि धर्म इस जीव को नरक में जाने से बचाता है।

**भेद विज्ञान की महिमा**—धर्म प्रथम तो भेदविज्ञान है, जहाँ आत्मा के स्वरूप का सही प्रकाश है। यह में जीव हूँ, स्वरूप से, स्वभाव से सहज ही ज्ञान दर्शन मात्र हूँ और ये देहादिक पदार्थ अचेतन हैं, जड़ हैं, पौद्गलिक हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं, अमूर्तिक हूँ। इनकी हमारी जाति मिलती ही नहीं है। अत्यन्त विमुख हैं। पुद्गल, पुद्गल की जाति तो मिल गयी पर मेरी जाति तो पुद्गल से बिल्कुल विलक्षण है उनसे मैं मिलता नहीं। और अन्य जीवों के स्वरूप से तो मिल गया व्यक्तिस्वरूप किसी भी जीव में मिल सकता नहीं। ऐसा में अन्य समस्त जीवों से न्यारा समस्त पुद्गलों से न्यारा केवल ज्ञानदर्शनस्वरूप अविदित अमर एक ज्योतिपुञ्ज हूँ इसका ऐसा स्वभाव है कि अपने स्वभावरूप प्रवर्ते तो इसके आकुलता रह नहीं सकती। तो मेरा स्वरूप ज्ञानानन्द है। एक नमस्कार मंत्र बोलते हैं ना—चिदानन्दाय नमः। सच्चिदानन्दाय नमः। इसमें आत्मा के स्वरूप का ही वर्णन है। यह मैं आत्माचैतन्य और आनन्दस्वरूप हूँ। चैतन्य शब्द कहने से ज्ञान और दर्शन दोनों आ जाते हैं। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ और आनन्द स्वरूप हूँ। सच्चिदानन्द कहने से अनन्त चतुष्टय की बात

आती है। मैं ज्ञान, आनन्द और शक्ति स्वरूप हूँ, मेरे स्वरूप की ही दृष्टि की गई है इस मंत्र में। तो जो पुरुष ऐसे सच्चिदानन्द स्वरूप निज पवित्र स्वभाव का ध्यान करता है उसके विषय कषायों में प्रवृत्ति नहीं है और विषयकषायों में प्रवृत्ति न होने से यह जीव नरक आदिक कुगतियों में नहीं पैदा हो सकता है। धर्म का अतुल्य प्रताप है। हम आप सब जितने भी शुद्ध रह सकते हैं, जितना भी आनन्द पा सकते हैं वह सब सबसे न्यारा बनकर केवल एक शुद्ध स्वभाव की ओर झुकने से पा सकते हैं। यही धर्म है अर्थात् आनन्द पाने का एक मात्र उपाय धर्म ही है।

**धर्म की महत्ता**—यही शरण है, यही हमें कुगतियों से हस्तावलम्बन देकर बचाता है ऐसी इस धर्म में सामर्थ्य है। यह बारह भावनाओं में उस धर्मभावना का प्रकरण है। इसमें धर्म के जितने गुण गायेंगे, जितना धर्म के प्रताप का चिन्तन करेंगे उतनी धर्म में रुचि जगेगी और धर्म में रुचि जगने से उस धर्म में ही हमारा यत्न होगा और धर्म से ही हम सारे संकटों से दूर हो जायेंगे। जिसकी जहाँ रुचि होती है उसकी श्रद्धा भी वहाँ होती है। इसका प्रयत्न भी वहाँ होता है। अज्ञानी जीव के अधर्मभाव में रुचि है। वह विषय भावों को, कषाय भावों को, विकारों को चाहता है तो उसी में उसकी श्रद्धा है। राग करने से ही आनन्द मिलता है। द्वेष मोह करने से ही सुख मिलता है। ऐसी ही श्रद्धा अज्ञानी के बनती है, तो जब श्रद्धा भी अधर्म की है और ज्ञान भी अधर्म का ही पकड़ता है तो वह यत्न किसका करेगा? वह तो अधर्म का ही यत्न करेगा, किन्तु ज्ञानी जीव को अपने बारे में धर्ममय स्वरूप की श्रद्धा है, मैं केवल ज्यातिमय हूँ। ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। इस मुझ आत्मा का दुनिया में कुछ भी नहीं है। समस्त परपदार्थों से मैं विविक्त हूँ। ऐसा अपने आपमें अपने सहज स्वरूप का प्रत्यय है ज्ञानी को तब ज्ञानी की रुचि भी तो धर्म में हुई इसकी श्रद्धा भी निज धर्म में हुई तो यत्न भी निज धर्म में होता है। अपने आपके शुद्ध स्वरूप का विश्वास हो। शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो, और उस शुद्ध स्वरूप का ही आचरण हो, यही रत्नत्रय है, यही धर्म है। यही अपने आपकी सच्ची दया है। जिसके प्रताप से आत्मा संसार के समस्त संकटों से छूट जाये और उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करे ऐसा कार्य करने से बढ़कर और क्या दया का काम हो सकता है? इसलिए दया ही धर्म है यो कहो, 10 लक्षण धर्म है यों कहो, रत्नत्रय धर्म है यों कहो। सबका भाव यही है कि यह आत्मा अपने स्वरूप का श्रद्धान करे, अपना ज्ञान करे और अपने आचरण में ही रंग जाये, बस यही धर्म का पालन है। जो पुरुष इस धर्म का आश्रय लेता है वह पुरुष नरक जैसे महान अंधकूप में नहीं गिरता है, नरक में नहीं गिरता। इससे यह भी उपलक्षण अर्थ लेना कि अन्य भी कुयोनियों में वह पतित नहीं होता है और सीधी सी बात यह है कि जिसके पास धर्म है वह देव होगा, मनुष्य होगा। मोक्ष जाने से पहिले इन ही अच्छी गतियों में उसका जन्म होगा और बहुत ही शीघ्र इन जन्मों से निवृत्त होकर मुक्ति के आनन्द को प्राप्त करेगा। अपने कर्मों से विकारों से और शरीर से सदा के लिए छूटकर यह अपने आपके स्वरूप में बसे हुए अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करेगा।

तो दुर्गतियों से निकलकर उत्कृष्ट पद में पहुँच जाना यह सब धर्म का ही प्रसाद है। धर्म के प्रसाद से हम सब संकटों से दूर होते हैं और समस्त सम्पन्नताओं को प्राप्त करते हैं।

## श्लोक-212

महातिशयसम्पूर्ण कल्याणोद्दाममन्दिरम्।

धर्मो ददातिनिर्विध्नं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवम्॥212॥

**धर्म का अलौकिक फल**—धर्म अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मी से सम्पन्न अरहंत सर्वज्ञ देव के वैभव को भी प्रदान करता है अर्थात् धर्म के प्रसाद से चार घातिया कर्मों का अभाव होता है और परम वीतराग दशा और सर्वज्ञ स्थिति होती है, और इनकी इस वीतरागता और प्रभुता की भक्ति से प्रेरित होकर इन्द्र महान समवशरण की रचना करता है और अतुल वैभव की उसमें रचना हुआ करती है। वह वैभव बड़े-बड़े अतिशयों से परिपूर्ण है। जहाँ अरहंत विराजमान हों वहाँ से चारों ओर सौ-सौ योजन तक दुर्भिक्ष तक भी नहीं पड़ता यह कितना अलौकिक अतिशय है? जहाँ प्रभु विराजे हों जो जिन लोक के नायक प्रभु अत्यन्त शुद्ध परमात्मा जहाँ विराजमान हों वहाँ के निकट के जब लोग अन्न के अभाव से अथवा अन्न रोग मारी आदिक से दुःखी रहें यह नहीं हो पाता है। प्रभु यह कुछ करते नहीं है किन्तु उनके परिणामों का अतिशय ही ऐसा है कि चारों ओर सौ-सौ योजन सुभिक्ष रहता है। प्रभु अरहंत सयोगकेवली अवस्था में हैं और जब वे विहार करते हैं तो उनका आकाश में ही गमन होता है और विहार के समय देवता जो विहार में नियुक्त होते हैं, प्रभु के चरण कमलों के नीचे स्वर्णकमल रचते हैं और एक दो ही नहीं किन्तु चारों ओर अनेक स्वर्णकमल रच देते हैं। यह एक सर्व साधारण जनों के लिये अतिशय हो जाता है। इतना बड़ा अतिशय जहाँ हो रहा है वह किसका प्रताप है? धर्म का प्रताप है। जिसके ये सब चमत्कार प्रकट होते हैं।

**धर्मों की निर्वाञ्छकता**—वह तो इन चमत्कारों को चाहता ही नहीं और जो लोग ऐसी प्रभुता के चमत्कारों को सुनकर उन चमत्कारों में इच्छा रखते हैं उनके ये चमत्कार नहीं होते हैं। तो इसका निष्कर्ष यह निकला कि कुछ चाहो मत। जो चाहेगा उसे नहीं मिलता, जो नहीं चाहता है उसके निकट लक्ष्मी दासी बनकर आती है। पर अब आने से क्या लाभ? जब चाह थी तब वैभव नहीं मिला, अब नहीं चाह है तो वैभव चरणों में आकर गिरता है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि संसार पूरा असार है।

**अरहंत की गंध कुटी की अतिशयता**—जब किसी प्रोग्राम में कोई महापुरुष आता है तो बड़ा मंडप सजाया जाता है। भाषण सुनने के लिए बड़ी तैयारियाँ होती हैं। सब कुछ तैयारियाँ होती हैं। सब कुछ तैयारियाँ होने के बावजूद भी बड़े लाउडस्पीकर लग जायें, सब तरह के प्रबंध हो जायें पर एक कमी हर

जगह रहती ही है। सामने सब लोग बैठे हों तो वक्ता का मुँह दिखेगा। पर लोग तो अगल-बगल भी बैठा करते हैं, और बहुत बड़ी सभा हो तो पीछे भी लोग बैठा करते हैं, पर वक्ता का मुख सबको नहीं दिख सकता। यह एक बहुत बड़ी कमी रहती है। बहुत-बहुत ऊँची व्यवस्थाएँ करने के बाद भी लोग वीतराग सर्वज्ञदेव के समवशरण में गंधकुटी में अथवा दिव्य उपदेश की व्यवस्थाओं में यह कमी नहीं रह पाती। प्रभु का मुख चारों ओर बैठने वालों को दिखता है। यह अतिशय क्या एक सर्व साधारण में पाया जाता है? बड़े-बड़े अतिशयों से सम्पूर्ण सर्वज्ञ देव के वैभव को यह धर्म ही तो देता है? कोई तीर्थकर होता है उस भव में कोई हाथ पैर से कमायी करके या कोई बड़ा ऊँचा रोजगार ठानकर या कोई ऊँची फैक्टरी लगाकर बड़ा बना हो और समवशरण की रचना बनाया हो यह सम्भव है क्या? ज्यों-ज्यों वे पर से विरक्त होते गए, अपने आपकी ओर ही झुकाव बढ़ता गया, ये सब अतिशय उनके प्रकट होते गए। कोई महापुरुष जब आता है तो प्रबंधकों को यह खतरा रहता है कि यह आये हैं भली प्रकार से अपना काम करके भाषण देकर सकुशल चले जायें। कहीं कोई उपद्रव न हो, कोई गुण्डा इन्हें गोली से मार न दे। अनेक आशंकाएँ रहती हैं, इसी कारण पुलिस की बड़ी व्यवस्थाएँ रहती हैं। कोई उपद्रव न कर सके। लेकिन सर्वज्ञदेव के निकट उपसर्ग और उपसर्ग की शंका है ही नहीं। कोई कर ही नहीं सकता। यह वैभव भी उन्हें मिला जो अतिशय से परिपूर्ण है। कैसा है सर्वज्ञदेव का वैभव? कुछ अधिक 8 वर्ष कम एक कोट पूर्व तक अरहंत अवस्था में सशरीर अवस्था में बने रहे और इतने लम्बे समय तक उनके न आहार, न कवलाहार, न भूख, न प्यास, न वेदना, न कोई क्षोभ कुछ भी उपद्रव नहीं होते। यह क्या कम अतिशय का वैभव है? इस वैभव को कौन प्रदान करता है? धर्म ही प्रदान करता है।

**धर्म में सुख की कारणता**—तो ऐसे-ऐसे महान् अतिशयों से परिपूर्ण सर्वज्ञदेव की विभूति को तीर्थकर की पदवी को प्रदान करने वाला धर्म ही है। यह धर्म समस्त कल्याण का उत्कृष्ट निवास स्थान है। धर्म नाम है रागद्वेष मोह से रहित शुद्ध जाननहार, परिणमन होना। जिस भव्य आत्मा का ऐसा ज्ञाताद्रष्टा रहने का परिणमन हो जहाँ संकल्प विकल्प तरंगे नाम को भी न हों, ऐसी उत्कृष्ट स्थिति में ऐसा प्रताप है कि आत्मा के समस्त गुण चरम सीमा में विकास को प्राप्त हो जायें। धर्मभावना में धर्म माहात्म्य की भावना की गई है। हमारा शरण केवल हमारा धर्म ही है। यह शरण हुए बिना इस ओर दृढ़तापूर्वक अपना प्रयोग हुए बिना व्यवसाय हुए बिना जगत में कहीं भी भटककर देख लो किसी भी साधन में इसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जब कभी भी शान्ति होगी तो अपने आपमें अपने आपकी दृष्टि होने से ही होगी, उपयोग किसी बाहर की ओर जाय किसी परवस्तु को अपने विषय में ले तो उसकी तो प्रकृति ही ऐसी है कि आकुलता को उत्पन्न करता है।

**आत्मा की सबसे निरपेक्षता**—यह आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है। किसी अन्य की कोई अपेक्षा ही नहीं है। बल्कि अन्य की अपेक्षा रखने से इसके आनन्द में विघात होता है। प्रयोग करके अनुभव करने की बात

है। केवल श्रवण से, केवल कथन से, चर्चा से इसका विशद परिचय नहीं होता। इसका विशद परिचय अनुभव से ही होता है। अपने चित्त को, अपने ज्ञान को इस प्रकार से परिणमाया जाय कि यह विश्राम को प्राप्त हो, इसमें रागद्वेष का झंझट न आ सके तो इस पुरुषार्थ में यह अनुभव होता है कि शान्ति का धाम यही परिणमन है। धर्म ही शान्ति का एकमात्र स्थान है। यह तो सर्व कल्याण का मंदिर बना हुआ है। हमारे सर्व संकटों का निवारण होना एक मात्र आत्म धर्म के पालन से सम्भव है, अन्य कोई उपाय नहीं है। लोग शान्ति के लिए धन जोड़ते हैं, जोड़ते जायें पर आखिर होगा क्या? छूटेगा एक साथ सब। मिलता क्या है इसमें? जोड़ते गए जोड़ते गए पर अन्त में मिला क्या इस आत्मा को? व्यर्थ का ही वह सब श्रम रहा। जीवन भर उसके पीछे अड़े, उसमें फँसे और अन्त में मिला कुछ नहीं। किन्तु धर्म के लिए लगन हो, यथार्थ ज्ञान रखना, भेदविज्ञान करना, अनात्मतत्त्व को छोड़ना अपने स्वरूप में आना, ऐसा यत्न रहे तो उसके प्रसाद से जो लाभ प्राप्त होगा वह स्वयं समझेगा, स्वयं अनुभवेगा कि हमने यह कुछ तत्त्व पाया है।

**धर्म की बाह्याडम्बरता से रिक्तता**—यह धर्म दिखावट, बनावट, सजावट से अत्यन्त दूर है। जिसकी यह भावना अथवा वासना हो कि लोगों को बताऊँ कि मैं कितना ऊँचा हूँ, कितना धर्मपालन करता हूँ अथवा पर्याय बुद्धि बने। अपने विचार, अपनी तर्कणायें, अपना राग, अपनी कषाय अपने को प्रिय लगेँ और यही मैं हूँ और उसके ही पोषण का यत्न रखें तो इस दिखावट बनावट और सजावट की परिस्थिति में धर्म नहीं होता। धर्म होता है गुप्त ही गुप्त, अपने आपमें अपने आपका नाता रखकर। अपने स्वरूप में रुचि करे, उसका ही परिज्ञान करे उसमें ही मग्न हो ऐसी ही अपनी गुप्त वृत्ति में धर्म प्रकट होता है। यों कह लीजिए एक शब्द में कि सर्वस्व त्यागने पर अथवा अपने आपको अपने आपमें मग्न होने के लिए समर्पण कर देने पर धर्म की महिमा अनुभव में आती है। यह धर्मभावना अतिशयों से परिपूर्ण कल्याण का एकमात्र स्थान अंतरंग और बहिरङ्ग लक्ष्मी से सम्पन्न श्रीमान् सर्वज्ञदेव के वैभव को प्रदान करता है। धर्म के करते हुए कुछ छुटपुट विभूति मिल जाय, राज्य मिल जाय, धन वैभव मिल जाय तो वह सब तो न कुछ चीज है। जैसे कोई किसान खेती करता है तो उसका लक्ष्य तो अनाज उत्पन्न करना है, भुस स्वयमेव मिलता है। ऐसे ही धर्म के यत्न में उत्कृष्ट आनन्द मिलता है पर अन्य छुटपुट विभूति स्वयमेव प्राप्त होती है।

### श्लोक-213

याति सार्द्धं तथा पाति करोति नियतं हितम्।

जन्मपङ्.कात्समुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि॥213॥

**धर्म में मुक्ति का नेतृत्व**—मोही जीव को जिन पौद्गलिक पिण्डों में रुचि है वह कुछ भी इस जीव के साथ परलोक में नहीं जाती। मकान वैभव परिजन और की तो बात क्या, वह देह तक भी साथ नहीं जाता। जिसके पोषण के लिए जिसके श्रृंगार के लिए जिसको आत्मा मानकर आत्मबुद्धि करके सन्मान और अपमान के लिए माना जाता है ऐसा वह देह भी परलोक में इस प्राणी के साथ नहीं जाता किन्तु धर्म यह अवश्य साथ जाता है, और परलोक में भी यह धर्म मेरी रक्षा करता है। आज हम मनुष्य हैं और सब कुछ हमें ख्याल है, कैसा आराम है, कैसा वैभव है, कैसा यह मन चलता है? मरण हो जाने पर तो एकदम बदल होगी। वह बदल क्या होगी? अत्यन्त विचित्र और विभिन्न बदल हो सकती है। और की तो बात क्या मनुष्य पर्याय के बाद स्थावर पर्याय भी बन सकती है तब कितनी बड़ी बदल हुई? एक जीवन में कुछ भी बदल हो जाय, आज धनी हैं, कल नहीं है धन तो लोग कहते हैं कि यह तो बिल्कुल बदल गया। बिल्कुल कहाँ बदला? बदलना तो यह है कि अभी मनुष्य भव है और मरकर हो गए कीड़ा-मकौड़ा, पशु-पक्षी तो इस बदल को देखो कितनी विचित्र बदल हो सकती है? और ऐसी बदल होने का समय कोई दूर नहीं है। मरण होने का समय कोई दूर नहीं है। कोई 10 वर्ष में, 5 वर्ष में, कोई 20 वर्ष में, कोई 2-1 दिन में किसी भी समय मरण हो सकता है। मरण के बाद यह जीव जहाँ जायगा वहाँ भी नया समागम, नये संकल्प, नई धारणायें, सब वहाँ नया है। यहाँ का ख्याल ही क्या करेगा? तो जब अति निकट में हमारी बिल्कुल बदल होने वाली संकल्प विकल्प को बढ़ाकर अपने प्रभु को क्यों हैरान किया जा रहा है? ये सब कुछ ठाठ समागम परलोक में इस प्राणी के साथ नहीं जाते किन्तु धर्म परलोक में भी इस प्राणी के साथ जाता है।

**धर्म का परमोकारित्व**—ये परिजन जिनके लिए अनेक पाप भी किए जाते हैं, जिनको विषय बनाकर मोह राग पुष्ट किया जाता है, लोक में क्या ये रक्षा करने आयेंगे? परलोक की बात जाने दो, इस ही भव में ये लोग कुछ रक्षा नहीं कर सकते। जब कभी परिजनों के निमित्त से रक्षा भी हो जाती है तो उस रक्षा का भी कारण धर्म है, न कि वे लोग। धर्म है तो अनेक लोग इसकी रक्षा करने के निमित्त बन जायेंगे। लोक में कहावत है कि खुद के पास वैभव हो तो बीसों पूछते हैं और खुद रोते हैं, वैभवहीन हैं, पुण्यहीन हैं तो कोई पूछने वाला नहीं होता, तो वहाँ भी जो पूछ हुई है वह कहीं दूसरे ने नहीं पूछ की, किन्तु खुद के पुण्य ने, खुद के धर्म ने पूछ की। जो भी इस लोक में सुख साधन बनते हैं वह धर्म का प्रताप है, दूसरे का कुछ ऐहसान नहीं। यह सब अपनी ही करनी का फल है। तो धर्म परलोक में साथ जाता है और वहाँ यह धर्म इसकी रक्षा करता है। और रक्षा भी एक सांसारिक ढंग से नहीं, विषयों के साधन जुटा दे, इस रूप से नहीं, ये भी साथ अपनी सीमा में चलते हैं किन्तु देखिये तो धर्म कैसा इसकी रक्षा करता है। यह धर्म प्राणियों का हित करता है। संसार के सर्वसंकटों से छुटाकर, विषय कषायों के कीचड़ों से निकालकर इसे मोक्षमार्ग में भी उत्पन्न कर देता है। इतनी बातों में से परिजन अथवा मित्रजन जिनसे बहुत बड़ा स्नेह है कोई कर सकते हैं क्या? अर्थात् यहाँ का कोई भी समागम न परलोक में साथ जाता है और न इस जीव की रक्षा करता है, न

इसका हित करता है और न इसे विषयों से निकालकर निरापद स्थान में पहुँचा सकता है। सब बातों के करने में समर्थ यह धर्म है।

**धर्म का अन्तःनिवास**—धर्म कहीं बाहर नहीं है। कहीं पैसों से खरीदकर मिल जाय अथवा अपने देह का बल दिखाने से मिल जाय अथवा किसी प्रकार की कोई कूटनीति से मिल जाय ऐसा नहीं है। धर्म आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का परिणामन है और वह एक निरपेक्ष स्वाधीन रूप के स्वभाव रूप है। वह कहीं मन, वचन, काय के प्रयत्नों से न मिलेगा किन्तु इन सब योगों को, कषायों को, श्रमों को परित्याग करके एक परमविश्राम की स्थिति बनाये तो मिलेगा। यह प्रयत्न मोही जीवों को बड़ा कठिन लगता है, किन्तु अपने आपके कल्याण का साधन करने का यत्न तो स्थायी है, सुगम है, दृष्टि फिरने की बात भर है। अपने-अपने आपकी दृष्टि नहीं बनी है तो अत्यन्त दूर है। जैसे कागज बराबर पर्दा आगे हो, उस पर्दे के पीछे कुछ भी चीज हो, वह तो इससे अत्यन्त परे है। इसी प्रकार आत्मदृष्टि यदि नहीं है तो मेरे ही निकट क्या, मैं ही तो आत्मा हूँ, पर मेरा ही स्वभाव मेरा ही धर्म, मेरी ही शान्ति मुझसे दुर्लभ हो जाती है केवल एक अपने आपकी दृष्टि न होने से। अपने आप आपकी दृष्टि हो, अपने आपका परिज्ञान हो और अपने आपमें रमण करने का पुरुषार्थ हो, यही रत्नत्रय का रूप है, यही धर्म का रूप है। इस ही में 10 लक्षण धर्म समाया हुआ है, यही उत्कृष्ट अपने आपकी दया है, ऐसा अपने धर्म का परिपालन हो तो संसार के संकटों से हम सदा के लिए मुक्त हो सकते हैं। यह सब अपना काम है, और बिना किसी दिखावट के गुप्त होकर अपने आपके कल्याण की भावना से अपने को अपने ही अन्तरङ्ग में करना है। धर्म ही वास्तव में हम आपका शरण है। हम अनेक प्रयत्न करके अपने विशद ज्ञान द्वारा जब इस धर्म को प्राप्त करें यही एकमात्र शान्ति का और एक अभ्युदय शब्द उपाय है। अन्य कोई भी शान्ति का उपाय नहीं है।

## श्लोक-214

न धर्मसदृशः कश्चित्सर्वाभ्युदय साधकः।

आनन्दकृजकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः॥214॥

**धर्म का सर्वसाधकत्व**—इस जगत में धर्म के समान अन्य कुछ भी वस्तु सर्व प्रकार के अभ्युदय का साधक नहीं है। उदय शब्द और अभ्युदय शब्द—इन दोनों के शब्द अन्तर है। उदय का अर्थ है निकलना, विकास होना और अभ्युदय का अर्थ है सब ओर फैलाव होना। अभि उपसर्ग है जिसका अर्थ है सर्व ओर से उदय मायने विकास होना। तो धर्म में ऐसा प्रताप है कि जिस आत्मा में धर्म का विकास है उस आत्मा में

समस्त गुणों का युगपत् विकास होता है। भले ही किसी भेददृष्टि में कम अधिक विकास हो, किसी का कम विकास है, किसी का अधिक है। जैसे भेददृष्टि में कहा जाता है ना कि श्रद्धा गुण का विकास पहिले पूर्ण होता है, ज्ञान का विकास इसके पश्चात् पूर्ण होता है और चारित्र का विकास इसके पश्चात् पूर्ण होता है, लेकिन तीनों का विकास एक साथ अभ्युदित होता है। जिस ही काल में दर्शन मोहनीय का, अनन्तानुबंधी का विनाश होता है उस ही काल में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों का विकास होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की तो बहुत प्रसिद्धि हैं, किन्तु सम्यक्चारित्र के सम्बंध में कुछ लोग ऐसा ख्याल रखते हैं कि सम्यक्त्व प्रकट होने के बाद जब वह पंचम या सप्तम गुण स्थान में जाय तब से चारित्र प्रवृत्त होता है लेकिन जो चारित्र योग का सम्बंध रखता है, योगनिवृत्ति का सम्बंध रखता है वह चारित्रप्रवृत्ति निवृत्तात्मक है।

**चारित्र ही धर्म का मूल**—चारित्र का मूल स्वरूपाचरण है और चारित्र की परिपूर्णता भी स्वरूपाचरण है। अणुव्रत और महाव्रत में प्रवृत्तियों की विशेषता है और वे प्रवृत्तियाँ स्वरूपाचरण में विकास बने, उसके विकास में बाधायेँ न आयेँ इसके लिए हैं। चारित्र तो एक ही प्रकार का होता है। जो आत्मस्वरूप है उस स्वरूप में मग्न होना, उस रूप आचरण होना, परिणाम होना इसका नाम है चारित्र। अब इस स्वरूपाचरण का विकास हो और विकास होकर परमात्म अवस्था में स्वरूपाचरण की परिपूर्णता होना, यही तो क्रम है। किन्तु सम्यक्त्व जगने के साथ ही स्वरूपाचरण भी हो जाता है। तो धर्म में ऐसा प्रताप है कि वह समस्त अभ्युदयों का साधक है। लौकिक दृष्टि से जो इन्द्रादिक अथवा महापुरुष आदि के जितने भी पद हैं, इनकी विभूतियाँ हैं। इन अभ्युदयों का साधक भी धर्म है। वस्तुतः धर्म के साथ जो अन्तरङ्ग की मति लग रही है वह अनुराग इन सम्पदाओं का कारण है। धर्म तो एक स्वच्छता का ही कारण है। तो इस जगत में धर्म के समान अन्य कुछ भी समस्त प्रकार के अभ्युदयों का साधक नहीं है।

**श्रेय का मूल चारित्र**—यह धर्म ही मनचाही सम्पदा को देने वाला है। किस तरह? धर्म नाम उसका है जहाँ चाह नहीं रहती। जहाँ चाह नहीं रही वहाँ मनचाही चीज मिल गयी। सब मिल गया। वहाँ यह भेद नहीं रहता कि यह मिला है, यह नहीं मिला है। जहाँ चाह नहीं रही कि मन चाहा ही सब मिल गया। और यह धर्म आनन्दरूपी वृक्ष का कंद है। जैसे वृक्ष कंद से अंकुर उत्पन्न होता है इसी प्रकार इस धर्मकन्द से आनन्द उत्पन्न होता है। वहाँ धर्म नहीं है जहाँ परिणाम कष्ट रूप अनुभव कर रहा हो। किसी तपस्या में, किसी धार्मिक समारोह प्रवृत्ति के प्रसंग में कुछ क्लेशरूप परिणामन चलता हो वह धर्म नहीं है। धर्म तो आनन्द को ही साथ लेकर रहता है। धर्म के साथ कष्ट का कोई काम नहीं है। तो इस धर्म वृक्ष कंद से आनन्द के अंकुर उत्पन्न होते हैं। धर्म कंद है और आनन्द अंकुर हैं, वृक्ष है, ये फल फूल हैं। इस प्रकार यह धर्म हितरूप है। पूजनीय है और मोक्ष का देने वाला है। तीन विशेषण दिये हैं धर्म हितरूप है, पूज्य है और धर्म का देने वाला है। चूँकि यह धर्म हितरूप है इस ही कारण पूज्य है, जो हितकर हो वही पूज्य कहलाता है। पूज्य का

प्रयोजन क्या? कोई हमारा हित करता रहे और हम उसे पूजते रहें, क्या ऐसी कभी किसी की प्रवृत्ति बनी है। जो हितकर हो जिससे हित सिद्ध होता है बस वही हमारे लिए स्मरणीय है, पूजनीय है और उसकी ही शरण लेकर उसका ही आदर्श मानकर हम रहें। तो यह धर्म हितकर है अतएव पूज्य है और मोक्ष का देने वाला है, मोक्ष नाम है केवल रह जाने का। सबसे छुटकारा पाकर यह मैं आत्मा जैसा सहज ही हूँ वैसा ही केवल रह जाऊँ इस ही का नाम मोक्ष है। तो ऐसा कैवल्य मिलना अर्थात् खालिस आत्मा का रह जाना जिसके साथ किसी अणु का लेप नहीं है, केवल खालिस है—ऐसी स्थिति हो जाय इसका नाम मोक्ष है।

**स्वभावदृष्टि ही मोक्ष का मूल**—इस मोक्ष के उपाय में हमें कैवल्य की दृष्टि बनानी होगी। मैं केवल हूँ। इस संसार अवस्था में भी मैं केवल हूँ, अकेला हूँ, केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ, यह भी मैं किसी दूसरी चीज से मिलकर कोई कंद नहीं बन गया, कोई एकमेक नहीं बन गया। इस मिलावट की स्थिति में भी जहाँ शरीर और कर्मों का प्रसंग लग रहा है वहाँ भी मैं केवल अकेला हूँ, ऐसा अपने आपको केवल निहारा जाय और यह निरख जैसी उतनी दृढ़ता पकड़ता जाय बस वैसा ही हम धर्म विकास में बढ़ते जाते हैं और इस कैवल्य का जैसे-जैसे विकास होता है बस वही गुणस्थान के ऊँचे बढने की बात है। जो जितना अपने इस कैवल्य को प्रकट करता है उसका उतना ही ऊँचा गुणस्थान है। और जहाँ यह कैवल्य गुणों के क्षेत्र में पूर्ण प्रकट हो जाता है उसे अरहंत अवस्था कहते हैं और प्रदेशों के क्षेत्र में जहाँ कैवल्य पूर्ण प्रकट हो जाता है उसे अरहंत अवस्था कहते हैं और प्रदेशों के भीतर में जहाँ कैवल्य पूर्ण प्रकट हो जाता है उसे सिद्ध अवस्था कहते हैं। ऐसा धर्म हमारा हमारे ही स्वभाव के हैं, हमारे ही पास है। हम ही धर्मरूप हैं, केवल एक अपने आपको बाह्य में न उलझाकर अपनी-अपनी ओर दृष्टि भर देना है। मान लिया है कि यह मैं सहज स्वरूपमात्र हूँ। बस इस सहजस्वरूप की दृष्टि से इस सहज स्वरूप मात्र मैं हूँ, इस प्रकार का निरन्तर प्रत्यय रहने से और ऐसा ही उपयोग बना रहने से यह कैवल्य प्रकट होता है। धर्म प्रकट होता है। धर्म का मूल स्वरूप इतना मात्र है, ऐसी धर्म की हमारी दृष्टि बने और अन्य बातें कहने व सिखाने की तो जरूरत है ही नहीं।

**मंगल कौन**—जिसकी धर्मदृष्टि बनी है वह उस धर्म परिणमन का अनुभव करने के पश्चात् यदि कदाचित् विकल्प उठे तो वह यह निर्णय रखता है कि धर्म ही मंगल है, धर्म ही लोकोत्तम है और धर्म ही शरण है। चत्वारिदण्डक में 4 चीजों को मंगल कहा, लोकोत्तम कहा और शरण कहा। उसमें 4 बातें ये धर्म ही बतायी गई हैं और इससे पहिले जो 3 शरण बताये गए हैं वे व्यवहार शरण हैं। वह हमारी प्राक् पदवी में आलम्बनरूप हैं और जब-जब हम इस धर्म की शरण में स्थिर नहीं हो पाते हैं तब-तब धर्म का विकास जो कर रहे हैं उनके शरण की भावना रखी जाती है, उनके गुणों का स्मरण किया जाता है, वे तीन हैं—अरहंत, सिद्ध और साधु। साधु में आचार्य, उपाध्याय और मुनि गर्भित हैं तो यों पंच परमेष्ठी ही शरण हैं यों कह लीजिए या अरहंत, सिद्ध, साधु शरण हैं। साधु तो इस धर्म के विकास में लग रहे हैं बढ़ रहे हैं और अरहंत गुणों के क्षेत्र में पूर्ण विकसित हैं और साधु सर्वप्रकार से अर्थात् प्रदेशों की दृष्टि से भी पूर्ण अनाकुल हैं। इस

प्रकार धर्म का विकास करनेहारे धर्म के पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुकने वाले देव और गुरु का मंगल और लोकोत्तम और शरण भाया है। पर ज्ञानी का प्रयोजन उद्देश्य लक्ष्य एक धर्म का शरण लेने का होता है। यह धर्म हितरूप है, पूज्य है और मुक्ति का देने वाला है। उस धर्म की शरण गहने का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए।

### श्लोक-215

व्यालानलोरगव्याघ्रद्विपशार्दूलराक्षसाः।

नृपादयोऽपि दुह्यन्ति न धर्माधिष्ठितात्मने॥215॥

**धर्मी के सर्वत्र अबाधकत्व—**जिसका आत्मा धर्म से अधिष्ठित है अर्थात् जिसका आत्मा धर्ममय है, धर्म से संयत है, धर्मरूप जिसका परिणमन है ऐसे आत्मा के प्रति कोई भी अन्य पुरुष अन्य जीव द्रोह नहीं कर सकता है। जैसे सर्प विषधर है। उसमें ऐसा भयंकर विष होता है कि डस लेने पर मनुष्य प्रायः मर जाता है। लेकिन विष को नष्ट करने वाली परम औषधि है तो वह धर्म है। शुद्ध स्वभाव की दृष्टि, शुद्धस्वभाव का आलम्बन शुद्ध स्वभाव में मग्न होने की प्रवृत्ति। यह धर्म ऐसा प्रतापवान है कि यह मंत्रमूर्ति बन जाता है। मंत्रों का बांचना और मंत्रों का उच्चारण ध्यान साधन एक यह मार्ग है और एक यह मार्ग है कि मंत्र का विकल्प ही न करे, किन्तु एक धर्म की आराधना में लगा हो, रागद्वेष मोह से अपने को दूर रखता हो, ऐसी पवित्रता जग रही हो तो यह पवित्रता तो साक्षात् मूर्ति है और ऐसे धर्माधिष्ठित आत्मा के प्रति सर्प भी द्रोह नहीं करता, सर्प उस पर नहीं आक्रमण करता है और कदाचित् आक्रमण भी करे तो उसका आक्रमण विफल हो जाता है। भक्तामरस्तोत्र में इन सब बातों पर बहुत विशेष स्तवन किया गया है। ऐसा धर्म करने वाले के विशेषतया पुण्यबंध चलता रहता है जब तक राग भाव हैं और पुण्य का भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, तब तक धर्म का मुक्ति से सम्बन्ध है और पुण्य का इन लौकिक चमत्कारों से सम्बन्ध है। जैसे सीता जी की अग्नि परीक्षा हुई थी। तब यह नियम तो नहीं बनाया जा सकता कि जो शीलवान पुरुष हों, शीलवती स्त्री हों उन्हें अग्नि में डाल दिया जाय, तो नियम से अग्नि पानी बन जाय, ऐसा तो नहीं है, लेकिन शीलवान पुरुषों की अन्तरवृत्ति से ऐसा विशिष्ट पुण्यबंध भी होता रहता है, तो उस पुण्य में यह सामर्थ्य है कि उसके निमित्त से अग्नि भी जल बन जाय ऐसा साधन बन जाय वह एक विशिष्ट चीज है। लेकिन ऐसा विशिष्ट पुण्यबंध धर्मात्मा पुरुषों के हुआ करता है इसलिए धर्म का फल कह दिया गया। तो ऐसे धर्माधिष्ठित आत्मा के प्रति अग्नि भी शान्त हो

जाती है, जलमय हो जाती है। जो होता है उन प्रसंगों में और जो होना चाहिए वे सब साधन मिल जाते हैं और उनसे ये सब विपदायें शान्त हो जाया करती हैं।

**धर्मी के पुण्य का फल लोकोत्तरता**—धर्मात्मा पुरुषों के प्रति विष भी द्रोह नहीं करता। पूजा की प्रस्तावना में कहते हैं ना कि भूतप्रेत वैताल विष निर्विषता को प्राप्त हो जाते हैं। बड़े-बड़े क्रूर, व्याघ्र, सिंह, हस्ति आदिक भी धर्मात्मा पुरुष के निकट शान्त बन जाते हैं। जैसे यहाँ कोई बड़ा क्रोध करके आया हुआ पुरुष किसी शान्त संत के निकट अपने क्रोध को बुझा लेता है तो एक उसने अपने में प्रभाव डाल लिया है। ऐसे ही ये क्रूर जानवर भी धर्मात्मा सन्तोषी शान्त पुरुष के निकट आकर उनकी मुद्रा को निरखकर ये भी शान्त हो जाते हैं। राक्षस दैत्य व्यंतर खोटे देव भी धर्मात्मा पुरुष के प्रति द्रोह नहीं करते हैं वैसे भी अन्दाज कर लो जैसे कि आज कल कोई लोग भूत लगे दिखते हैं कोई क्षेत्र पर जाता है वहाँ भूत बोलने लगता है बकने लगता है, ऐसी स्थिति बनती है तो उनका दिल स्वयं ठीक नहीं है और उन्होंने अपने दिल में ऐसी कल्पना गढ़ डाली है कि उन कल्पनाओं का ही उन पर भूत है, अन्य कोई व्यंतर भूत नहीं है और चूँकि वे दूसरों से सुनते रहते हैं तो वैसी ही अपनी क्रिया करने लगते हैं। जिसका चित्त विशुद्ध है, हृदय धर्म से ओतप्रोत है, तान जिसका निर्मल है, जिसके सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है, धर्म की जिसके अडिग श्रद्धा है, जिसने व्यवहार में मंत्र पंचपरमेष्ठी को ही शरण माना है और परमार्थ शरण निजस्वभाव की जिसकी दृष्टि बनी रहती है ऐसा पुरुष भूत आदिक से कहाँ प्रेरित होता है? तो अपना चित्त दृढ़ हो अपने धर्म में अपनी स्थिरता हो तो वहाँ ये राक्षस आदिक भी द्रोह नहीं कर सकते हैं। जो धर्मात्मा पुरुष होते हैं उनसे राजा आदिक भी द्रोह नहीं किया करते हैं। यों यह धर्म ही सर्व प्रकार के द्रोहों को नष्ट करने वाला है। अथवा यों कह लीजिए कि ये ही सबके सब सर्प, अग्निविष, व्याघ्र, हस्ति, सिंह, राक्षस, राजा आदिक धर्मात्मा पुरुष के रक्षक होते हैं। कोई घटना ऐसी होती है कि सर्प भी इनके रक्षक हो जाते हैं, अग्नि रक्षक हो जाती है। जो विष प्राण हर लेता है वह कभी-कभी खा लेने से अनेक रोग दूर हो जाते हैं कई पुरुषों पर ऐसी घटनाएँ भी घटी। धर्म के प्रताप के प्रसंग में ये बातें इसलिए बराबर कही जा रही हैं कि धर्म का माहात्म्य जानकर लोग इस धर्म में अपनी रुचि बढ़ायें।

## श्लोक-216

निःशेषं धर्मं सामर्थ्यं न सम्यग्बक्तुमीश्वरः।

स्फुरद्वक्तसहस्रेण भुजगेशोऽपि भूतले।।216।।

**धर्म की उत्कृष्टता**—धर्म की समस्त सामर्थ्य भली प्रकार से कहने में हजारों मुख वाला भी कोई हो, नागेन्द्र भुजगेश वह भी समर्थ नहीं है। अर्थात् धर्म के सामर्थ्य को हजारों मुख वाला कोई हो वह भी नहीं बता सकता है। धर्म की महिमा को फिर हम क्या बतायें? धर्म में जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द की उपमा देने के लिए इस जगत में कोई सा भी सुख नहीं है। फिर भी धर्म की आराधना में जो सुख प्राप्त होता है उस आनन्द को बताने के लिए कुछ न कुछ उद्यम करना ही है। धर्म के प्रताप से कितना आनन्द प्रकट होता है? यह समझाने के लिए यह बताया जाता है कि तीन लोक के समस्त जीवों को जो-जो भी आनन्द मिला हो, बड़े-बड़े इन्द्र महापुरुष सभी जीव जो सुख के विशिष्ट अधिकारी हैं उनको जितना भी सुख मिला हो और भूतकाल में इस अनादि से समस्त काल में जितने भी सुख भोग लिए हों और आगे अनन्तकाल तक जितने भी सुख भोग लिये हों, समस्त जीवों के इस जगत के सुख को एकत्रित कर लो उस सुख से भी कई गुना आनन्द धर्म से उत्पन्न होता है। इतना कहने पर भी धर्म की आनन्द की पूरी बात नहीं आ सकती।

**धर्म का महत्त्व**—ये जगत के समस्त सुख काल्पनिक हैं, आनन्द तो मायारूप नहीं है। वह तो आत्मा का स्वभाववर्तन है। तो जैसे धर्म से उत्पन्न हुए आनन्द को बताने में समर्थ न होने पर भी हम किसी भी प्रकार की उपमा से बताया करते हैं ऐसे ही धर्म की महिमा को हम नाना उपमाओं से बता तो रहे हैं किन्तु वास्तव में धर्म की महिमा हजारों मुख से भी नहीं कही जा सकती है। जैसे धर्म से उत्पन्न हुआ आनन्द जगत के समस्त सुखों की जाति से विलक्षण है और विलक्षण होने के कारण उस सुख से गुने की बात नहीं लगायी जा सकती है। धर्म का आनन्द तो अनुपम है, जगत के समस्त सुखों से भी परे है। ऐसे ही धर्म की महिमा बताने के लिए कुछ वर्णन किया जाता है, लौकिक विभूतियाँ न आयें लौकिक समृद्धियाँ परिपूर्ण बनें, ये सब बातें कही जाती हैं किन्तु इन महिमाओं से भी परे धर्म की महिमा है। धर्म के प्रसाद से सदा के लिए संसार के संकटों से मुक्ति हो जाती है और स्वाधीन आत्मीय स्वाभाविक अनन्त आनन्द का भोक्ता रहा करता है। इस महिमा को बनाने में समर्थ कोई भी वचन नहीं है। केवल इस प्रकार का धर्म परिणमन करके इस धर्म की महिमा का अनुभव किया जा सकता है पर कहा नहीं जा सकता है। जैसे किसी समुद्र का पानी सारा बिखर जाने से समुद्र में दिख रहे रत्नों को कोई देख तो सकता है पर गिन नहीं सकता है। अथवा यमुना नदी के निकट में जो रेत पड़ी रहती है उसके सारे कण आँखों से तो दिख रहे हैं पर उन्हें कोई गिन सकता है क्या? ऐसे ही धर्म का आनन्द, धर्म की महिमा, धर्म का अनुभव तो किया जा सकता है पर इसका वर्णन हजारों मुख वाला भी कोई हो तो वह भी करने में समर्थ नहीं है। ऐसे अनुपम प्रतापशील धर्म को जानकर हम आप सब इस धर्म की ओर अपनी रुचि करें।

## श्लोक-217

धर्मधर्मेति जल्पन्ति तत्त्वशून्याः कुदृष्टयः।

वस्तुत्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाक्षमाः यतः॥217॥

तत्त्वपरीक्षा बिना धर्म धर्म की व्यर्थ जल्पना—सभी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि धर्म से सब सुख मिलते हैं, और अपनी कल्पनाओं के अनुसार किसी भी बात में यह धर्म है, ऐसा मानकर धर्म धर्म की धुन भी बनाये रहते है किन्तु धर्म के स्वरूप से अपरिचित जीव वास्तव में धर्म के स्वरूप को नहीं समझते। आज कितने मजहब हैं जिनकी भली प्रकार कथनी की जाय तो करीब 50, 60 संख्या में बनेंगे। और सभी लोग अपनी-अपनी बात करते हैं और दूसरों की काट करते हैं सभी के सभी एक दूसरे की काट कर दें फिर बतलावो कि धर्म क्या है? किसे मानें हम धर्म। तो धर्म धर्म ऐसा सभी लोग कहते हैं। यहाँ भी धर्म की बात यह है, पर इतने मर्म को जानने से अन्य-अन्य बातों में उलझ गए हैं। तत्त्व की बात होती है कुछ और फिर रूढ़ि चल-चलकर बात बन जाती है कुछ। तो जो तत्त्वशून्य हैं, विपरीत जिनकी दृष्टि है वे यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते। कोई एक ही बात तो अब नहीं रही। कोई कहते हैं कि कृष्ण ईश्वर हैं, कोई कहते हैं राम हैं। कोई कहते हैं खुदा हैं, कोई कहते हैं ईसा हैं, कोई किन्हीं को, कोई किन्हीं को बताते हैं और बताने के साथ ही साथ अपनी बात को भी सही कहते हैं और दूसरे की बात खण्डित करते हैं। तब यह बतलावो कि आखिर निष्कर्ष क्या निकला?

स्वयं की मार्गणा से प्रभुस्वरूप में अविसंवाद—भैया ! यदि स्वयं के मार्ग से चलकर निर्णय करें तो निष्कर्ष निकले। किसी भी मजहब के लोग हों, उनसे अब आप यह पूछें कि जो कोई भी ईश्वर होगा उसमें ऐब होते हैं क्या? तो उनके ही मुख से कहलवा लो दोष तो नहीं होते। कोई नहीं कह सकता है कि भगवान में दोष होते हैं। तो यह अर्थ हुआ ना कि निर्दोष हुए, जो निर्दोष हो सो भगवान है। फिर एक बात और पूछना कि भगवान में ज्ञान गुण, आनन्द गुण ये पूरे होते हैं कि अधूरे होते हैं। किसी से भी कहने जावो धर्मी यही कहेंगे कि पूरे होते है। और जिनके दोष न हों वे भगवान हैं तो दोष जरा भी न हों उसका नाम है वीतराग, निर्दोष। जिसमें जरा भी राग नहीं है उसका नाम है वीतराग, क्योंकि सभी दोषों का राजा है राग। सारे ऐब राग से उत्पन्न होते हैं। ईर्ष्या हो, झगडें हों, सारी बातें राग को उपजाती हैं। किसी चीज का राग है तो दूसरे से झगडा भी करे। किसी से राग है तो विवाद होगा, द्वेष करेगा। तो सब ऐबों की जड़ है राग। तो जिसमें दोष नहीं है उसका नाम है वीतराग। और जिसमें गुण पूरे विकास को प्राप्त हैं उसका नाम रख लो सर्वज्ञ, क्योंकि सब गुणों का राजा है ज्ञान। जो ज्ञान सबको जाने अर्थात् पूरा हो तो उसका अर्थ है कि पूरे

गुण वाला है तो यह अर्थ निकला कि जो सर्वज्ञ हो और वीतराग हो वह ईश्वर है। इसमें किसी को बुरा न लगेगा। जिस चाहे मजहब वाले से बात कर लो। वह वीतराग और सर्वज्ञ की बात सुनकर खुश ही होगा और इसमें अपना गौरव समझेगा, हमारा ईश्वर भी वीतराग है, सर्वज्ञ है। अब वीतरागता और सर्वज्ञता का स्वरूप भले प्रकार से समझ में आ जाय तो उसकी धर्म की गुत्थी सब सुलझ जाय, पर ऐसा कौन है। जो भी ईश्वर मानते हैं, प्रायः करके उसकी कोई लीला बताते हैं, खेल बताते हैं गान, नृत्य बताते हैं पर उसका स्वरूप क्या है उस पर दृष्टि नहीं देते।

**वस्तुस्वरूप की परीक्षा से धर्मस्वरूप का निर्णय**—धर्म धर्म ऐसा सभी लोग कहते हैं, पर वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाने बिना सत्य परीक्षा कैसे होगी? वस्तुस्वरूप की परीक्षा हो तो धर्म की बात समझ सकते हैं। अब स्वरूप का तो ज्ञान नहीं और धर्म धर्म चिल्लाते हैं तो उससे कहीं धर्म का प्रभाव नहीं बनता। वस्तु स्वरूप की परीक्षा नय प्रमाण की विधि वाले शास्त्रों द्वारा ही हो सकती है। आज है कलयुग। पापों की ओर, अंधकार की ओर जाने का यह युग है। दृष्टि नहीं लोगों की अस ओर आती है, किन्तु वस्तु का स्वरूप सत्ता का स्वरूप जिस प्रकार जिन आगम में बताया है उस पद्धति से कोई स्वरूप खोज करे तो उसे वस्तु का स्वरूप मिल सकता है। तो धर्म क्या है, उस धर्म का स्वरूप कहते हैं।

## श्लोक-218

तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमौ।

ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्यं धर्म उच्यते॥218॥

**स्वभावदृष्टि से ही तत्त्व का सत्य निर्णय**—धर्म इन 10 रूपों में परख लिया जाता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। दूसरे का अपराध क्षमा कर देना सो क्षमा गुण है। क्षमा धर्म है कि नहीं? क्रोध करना धर्म नहीं है, अधर्म है और क्षमा करना तो धर्म है। धर्म की बात यदि कोई आत्मदृष्टि से विचारें तो जरा-जरासी बात में वह निर्णय कर सकता है और आत्मा की दृष्टि न करके केवल बाहरी बातों में ही दृष्टि लगाये, फलाने गुरु हैं उन्हें पूज लें, फलाने देव हैं इन्हें पूज लें तो वह धर्म के स्वरूप को जान नहीं सकता। हालांकि धर्म पालन के लिए गुरु पूजा भी चाहिए, देव पूजा भी चाहिए, मगर वे सहायक हैं, वै सीधे धर्म नहीं पैदा करते। धर्म तो हम अपने आत्मा पर जोर दें और अपने विचार में चलें तो होता है। वह हमारी कुछ मदद जरूर करते हैं अर्थात् हम धर्म पर चलना चाहें तो गुरु सत्संग और देव पूजा ये सहायक बनते हैं। पर हम तो टस से मस न हों, हम भी अपनी खोटी आदत से बाज न आयें,

केवल एक पूजा भक्ति से हम अपना धर्म बना लें तो नहीं बन सकता है। तो जो कुछ भी अपने आत्मा की दृष्टि बनाकर निर्णय करे तो उसे निर्णय झट हो जाय।

**क्षमा की पहिचान**—क्षमा करना धर्म है। क्षमा करने से कितने ही और गुण पैदा हो जाते हैं। प्रथम तो क्षमा तब की जब उसने दूसरे जीव का महत्त्व सोचा। हो गया अपराध कर्मों के उदय से, पर यह जीव तो शुद्ध है। इस जीव ने कोई अपराध नहीं किया। जीव के परिणामन में अपराध आ गया। यह जीव तो ब्रह्मस्वरूप हैं ऐसी दृष्टि जगे तब अच्छे विचारों से क्षमा की जा सकती है और ऐसी दृष्टि जगे बिना क्षमा करने वाला भी क्षमा-क्षमा कहता जायेगा और क्षमा नहीं कर सकता है। बहुत से लोग अपनी सभ्यता जताने के कारण कह देते हैं क्षमा, पर क्षमा करते नहीं हैं। क्षमा न करने का कारण क्या है कि जीव ने अपना और दूसरे जीव का महत्त्व अभी नहीं आँका। यदि जीव का महत्त्व, जीव का स्वरूप समझ में आये तो यह दिल से माफ कर देगा। इसने अपराध नहीं किया, कर्मों का उदय था इसलिए ऐसा कसूर बन गया। जीव तो वही शुद्ध है। तो क्षमा धर्म यों आसानी से नहीं आ जाता। उसमें अपनी योग्यता बनानी पड़ती है। तब क्षमा धर्म आता है।

**मार्दव धर्म विशिष्टता**—इसी तरह मार्दव धर्म है नम्रता करना। एक तो लखनऊशाही बोली बोलकर नम्रता बताना और एक दिल से नम्र बनना, इन दोनों में बड़ा अन्तर है। आजकल की बोली में कुछ ऐसे उर्दू शब्द भरे हैं जिन्हें सुनकर लोग वाह-वाह हो गए हैं। यह तो बड़ा नम्र है, अपने को बड़ा तुच्छ मानता है। पर नम्रता नहीं है, अपनी शान बताने के लिये वे नम्रता के शब्द बोले गए हैं। नम्रता कब हो सकती है? जब हम दूसरे जीव को भी महान समझे तब नम्रता हो सकती है। दूसरा जीव भी महान है यह हम कब जान सकते हैं जब हमें जीव का स्वरूप मालूम हो। सब जीवों का एक ज्ञानानन्द स्वरूप है। सभी प्रभु हैं, सबमें प्रभुता है, ऐश्वर्य है, सभी के सभी ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, ऐसी बात समझ में आये तो नम्रता की बात जगेगी। और जब तक यह जानते रहेंगे कि ये लोग तो न कुछ हैं, समझदार नहीं है। मैं ही इनमें समझदार हूँ ऐसी बात कोई समझता रहे इस नम्रता के साथ-साथ और नम्रता आ जाय तो क्या यह सम्भव है? तो नम्रता करना धर्म है। इस नम्रता के साथ-साथ और भी तात्विक बातें आ जाती हैं।

**आर्जव धर्म का वैशिष्ट्य**—तीसरा धर्म बताया आर्जव, सरलता। छल कपट न करना। छल कपट न करे, सरलता आये, यह बात तभी बन सकती है जब यह निर्णय हो कि यह मैं आत्मा इस शरीर से भी न्यारा केवल एक चैतन्य स्वरूप हूँ। उससे मेरे में न कुछ वैभव आ सकता और न मेरे साथ वह वैभव चिपका हुआ है। तो जब यह विदित हो कि मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्य स्वरूप हूँ, इस मेरे का यहाँ कुछ नहीं है, न मेरे कुछ साथ चिपका है, न ले जायेंगे। यह तो मैं सबसे न्यारा अकेला हूँ, यह बात चित्त में आयगी, यह

स्वरूप समझ में आयगा तो छल कपट छूट सकते हैं और जहाँ यह पर्याय बुद्धि रखेगा वहाँ इन्द्रिय के साधनों के लिए छल कपट करेगा। तो सरलता करना धर्म है।

**निर्लोभता ही धर्म है**—इससे पूर्व श्लोक में यह बताया था कि सभी लोग धर्म धर्म चिल्लाते हैं, पर धर्म का मर्म क्या है? इस बात से जब तक शून्य हैं तब तक धर्म क्या करेंगे? बाहरी जितनी बातें हैं ये सब एक साधन मात्र हैं, सीधे धर्म नहीं हैं। सीधे रूप से धर्म तो हम आपका निर्मल परिणाम है, आत्मा की शुद्ध परिणति है। तो आत्मा की दृष्टि न बनाये और फिर बाहर में जिस किसी भी परिस्थिति से धर्म धर्म समझकर उसकी ओर बहे तो मर्म कहाँ पाया? देखो धर्म आपका आपमें हैं, आपका धर्म आपमें मिल जायगा और उस धर्म की प्राप्ति से आप सन्तुष्ट हो जायेंगे। धर्म निर्लोभता है। लोभ को पाप बताया है। लोभ न रहे उसे धर्म कहा है। लोभ न रहे ऐसे धर्म की स्थिति हममें तभी आ सकती है जब यह समझ में आये कि यहाँ अपना कुछ नहीं है, देह तक भी जब अपना नहीं तो अन्य पदार्थ क्या अपने हो सकते हैं। क्या परिजन, क्या वैभव, क्या मित्रजन कुछ भी अपनी वस्तु नहीं है। यह बात एक अनुभव में उतर जाय तो उसकी इन वैभवों से प्रीति हट सकती है और निर्लोभता जग सकती है। निर्लोभ करना धर्म है और लोभ करना अधर्म है।

**सत् का निर्णय ही परमसत्य**—5 वीं बात बतायी गई है सत्य। सभी लोग कहते हैं सत्यमेव जयते। सत्य की ही विजय होती है। सत्य ही धर्म है, झूठ बोलना पाप है। पर सच ही बोला जाय सच पद्धति से रहा जाय ऐसा साहस जगने पर ही हो सकता है, मिथ्यात्व दशा में नहीं हो सकता है। मोह तो हममें बस रहा हो दुनिया का और हम सच्चाई की डींग मारें तो सच्चाई कैसे प्रकट हो सकती है? सच्चाई की बात सही ढंग से उसमें ही प्रकट हो सकती है जिसने अपने स्वरूप का ठीक निर्णय किया है, जगत के समस्त पदार्थों का ठीक स्वरूप जाना है, अपने को सबसे न्यारा मात्र चैतन्यस्वरूप माना है उसमें ही यह साहस जग सकता है कि हम तो सच्चाई के साथ रहेंगे और सत्य ही बोलेंगे।

**छठवाँ धर्म बताया है संयम**—जैसा चाहे खाना जब चाहे खाना, मांस मदिरा का भी विवेक नहीं और जैसी चाहे प्रवृत्ति करना, यह धर्म नहीं है, इससे किसी का पूरा तो न होगा। किसी भी बात का ख्याल न रखना और मौज से अपने विषयों का सुख लूटने के लिए असंयम रूप प्रवृत्ति रखना, किसी भी बात पर नियंत्रण न रखना ऐसा जो आचरण है वह आचरण जीव का हितकारी नहीं है, पापरूप है। और जिसने अपने मन को मार लिया, अपने को संयम में ढाल लिया, इन्द्रियाँ संयत हैं, मन संयत है तो इस प्रकार से जो अपने आपको संयम में रखता है तो यह संयम की स्थिति इस जीव को शान्ति पहुँचाती है और तृष्णा करे तो कहीं भी शान्त नहीं हो पाता। जिसने कुछ विषयों के भोग मिले उससे क्या यह कभी तृप्त हुआ है कि हमने इतना आज भोग लिया, अब भोगने की जरूरत नहीं रही। किसी भी विषयभोगों में सन्तोष किसी को नहीं होता। जैसे बहुत बढ़िया मिठाई आज खा लिया तो ऐसा निर्णय तो कोई नहीं कर पाता कि कितना बढ़िया

स्वाद है? अब हमें जरूरत न रहेगी। इसके समझने की या मिठाई को खाने में ऐसा संतोष कौन करता है। किसी भी विषय के भोग में जिस काल में भोग की इच्छा है उस काल तो उसका यह ख्याल बना कि यह भोग में आ जाय फिर तो हम सुखी हो जायेंगे, फिर हमें जरूरत न रहेगी। लेकिन भोगने के बाद फिर उसी की आकांक्षा होती है। तो असंयम की प्रवृत्ति में किसी ने शान्ति नहीं पायी। तो अपने मन को संयत रखना, इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना यह धर्म है और असंयम से रहना अधर्म है।

**इच्छानिरोध ही परमतप—7** वां धर्म है तप, इच्छा का निरोध करना तप है। अब समझिये कि सारे जगत के सिर पर यह इच्छा नाच रही है और सारा जगत इस इच्छा का दास बन रहा है। इस इच्छा को त्याग सके इसके लिए तो बड़ा साहस चाहिए। इच्छा न करे ऐसा साहस न कर सकने वाला ज्ञानी पुरुष ही हो सकता है। जिसे अपने स्वरूप के जौहर का पता है, अपने आपमें जो गुण हैं उसकी महिमा का पता है उसमें ही यह साहस बनेगा कि जगत के किसी भी बाहरी पदार्थ की इच्छा न करे। इच्छा का निरोध करना तप है और जो तप है सो धर्म है। यथा शक्ति इच्छा का निरोध करते हुए अपने धर्म की ओर बढ़ना चाहिए।

**त्याग का वैशिष्ट्य—8** वां धर्म है त्याग धर्म। जो ग्रहण किया है वे सब परभाव हैं, परतत्त्व हैं, पर पदार्थ हैं, वे सब काल्पनिक हैं उनका त्याग करिये और अपने आपमें जो सहज बात है, ज्ञान है, आनन्द है उसकी प्राप्ति में लगिये, उसकी दृष्टि रखिये। त्याग करना धर्म है। जो भी जीव संसार से पार हुए हैं वे त्याग के प्रताप से ही हुए हैं। संग्रह करके कोई मुक्त न हो सकेगा। त्याग किया तभी महात्मा बने और तभी परमात्मा हुए।

**आकिंचन्य का स्वरूप—9** वां धर्म है आकिंचन्य। अपने आपको ऐसी समझ में रखना कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा जो कुछ है वह सर्वस्व यह ही मुझमें है, मेरा स्वरूप ही मेरा है, इसके सिवाय अन्य कुछ मेरा नहीं है, इस तरह आकिंचन्य का परिणाम रखना धर्म है और मोह बनाना, यह सब मेरा है इस तरह के अंधकार में रहना यह अधर्म है। तो आकिंचन्य धर्म है।

**स्वरूप में रमण की ब्रह्मचर्य—**आखिरी बात बताई है ब्रह्मचर्य। जिसका अर्थ है ब्रह्म मायने आत्मा उसमें चर्य मायने लीन हो जाना। अपने आत्मस्वरूप में मग्न हो जाना यही धर्म है। जहाँ राग, द्वेष, मोह आदि कुछ नहीं रहे उसका नाम धर्म है। इस तरह धर्म का कुछ विवरण जानना हो तो इन 10 प्रकार के अंगों में धर्म की बात समझ सकते हैं। इस पर यदि दृष्टि न हुई और धर्म के नाम पर बड़े विवाद, कलह, गालियां, क्या-क्या बातें बना ली तो वह धर्म नहीं है, धर्म तो वस्तु का स्वरूप है अपने आपका सही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करना, अपने कैवल्य का अनुभव करना यही धर्म है।

**श्लोक-219**

यद्यत्स्वयानिष्टं तत्त्वाक्चित्तकर्मभिः कार्यम्।  
स्वप्नेऽपि नौ परेषामिति धर्मस्याग्निमं लिङ्गम्॥219॥

**धर्म आचरण से धर्मों की पहिचान**—धर्म की पहिचान क्या है? इस बात को तो इस दोहे में कह रहे हैं। धर्म की मुख्य पहिचान यह है कि जो काम अपने को बुरे लगते हैं उन कर्मों को दूसरों के लिए स्वप्न में भी न करें, यह धर्म की पहिचान है। कोई पुरुष धर्म में रत है यह जानना हो तो उसकी इस प्रवृत्ति को जान सकते हैं, कोई पुरुष अपना दिल दुःखाये तो भला नहीं लगता। तो अपना भी कर्तव्य यही है कि हम भी दूसरे का चित्त न दुःखाये। यदि कोई अपने को सूई चुभोता है तो उसमें अपने को कितना दुःख होता है तो मेरा भी कर्तव्य है कि मैं दूसरे जीव पर प्रहार न करूँ, छुरी न चलाऊँ, हिंसा न करूँ। जिसकी अहिंसारूप प्रवृत्ति है उसे समझिये कि यह धर्म का पात्र है। कोई पुरुष हमारे विषय में झूठ बोलता है तो उससे हमें कितना दुःख होता है, झूठी गवाही के कारण तो कितने ही पुरुषों की जान भी चली जाती है। तो असत्य भाषण करना, खुद के विषय में कोई असत्य भाषण करे तो कितना क्लेश पहुँचता है? जो जब असत्य भाषण अपने को अनिष्ट लगते हैं तो अपना भी कर्तव्य है कि हम किसी के विषय में कोई असत्य भाषण न करें। आत्मा में बल तब बढ़ता है जब अपने आध्यात्मिक आचरण में रत रहा करते हैं। कोई मनुष्य आपकी चीज चुरा ले तो उसमें आपको कितना कष्ट मालूम पड़ता है? तो अपना यह कर्तव्य है कि हम किसी की चीज न चुरायें। तो यों जो-जो बात अपने लिए अनिष्ट लगे वह सब बात दूसरे के प्रति स्वप्न में भी न करें यही है धर्म की पहिचान। कोई मनुष्य अपनी माँ बहिन पर कुदृष्टि करता है तो अपने को कितना बुरा लगता है, परस्त्री पर कुदृष्टि करता हो कोई तो सबकी आँखों में खटकता है। और लोग उसकी जान तक भी नष्ट करने के लिए तैयार हो जाते हैं। धर्म की पहिचान बाह्य वृत्तियों से की जाती है। अन्तरङ्ग में इसका क्या भाव है उस भाव को जानने का कोई तरीका है तो उसकी बाह्य वृत्तियों का निरखना ही तरीका है। भीतर की बात को कौन क्या जाने?

**धर्मों का बाह्य आचरण कैसा?**—इसी से तो विवेकी पुरुष वह है कि किसी भी प्रकार की अपने अन्दर खराबी न रक्खे। वचन सदा हितमित प्रिय बोलना। ऐसे वचन बोलना कि दूसरों का सदा हित करें, अहित न करें और व्यसनों में न लगायें ऐसे वचन बोलना, और साथ ही ये प्रिय वचन हों। हमारा यदि दूसरे के सुधार करने का भाव है तो हृदय में प्रेम ही तो उत्पन्न होता है। और सुधार करने का भाव है फिर सुधार करने की दृष्टि से कोई बात बोले तो बुरा क्यों बोला जाय? प्रिय वचन बोले जायें। अप्रिय वचन बोलकर खुद को भी

क्लेशों में डालना और दूसरे का भी नफा न होना यह तो कोई अच्छी बात नहीं है। धर्मी पुरुषों का व्यवहार इतना मधुर और नम्र होता है कि उससे वह भी सुखी रहता है और दूसरे लोग भी सुखी रहते हैं। हितमित प्रिय वचन हों। इसी प्रकार समस्त प्रवृत्तियाँ इस जीव की ऐसी भली होनी चाहिए कि जिससे बाहर में भी शान्ति का वातावरण बने और खुद में भी शान्ति की बात आये। परिग्रह की बात जिस किसी भी प्रकार हो उससे दूर रहें। दूसरे का परिग्रह हड़पना ऐसी प्रवृत्ति से उस पर कोई खुश रहता है क्या? वह तो उसे गाली देगा। उसे असन्तोष हो जाता है। तो जो स्वयं को इष्ट नहीं है वह बात दूसरों के लिए क्या करें। यही धर्म का काम है।

### श्लोक-220

धर्म शर्मभुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातुं क्षमो।  
 धर्म प्रापितमर्त्यलोकविपुल प्रीतिस्तदाशंसिताम्॥  
 धर्म स्वर्नगरी निरन्तर सुखास्वादो दयस्यास्पदम्।  
 धर्म किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम्॥220॥

**धर्म का गौरव**—सर्व प्रकार के कल्याण मिलें, इस बात की सामर्थ्य धर्म में ही है। बड़े-बड़े धरणेन्द्र सुख बड़े ऊँचे इन्द्रादिक के सुख इनके प्राप्त कराने में समर्थ एक धर्म ही है। धर्म बिना कौन तिरा? हम आप सुबह नहाकर मंदिर आते हैं, पूजन करते हैं नमस्कार करते हैं, मूर्ति बनाकर। साक्षात् जो भगवान हैं वे भी नहीं हैं किन्तु उनके नाम की मूर्ति बनाते हैं, उसका भी हम वंदन करते हैं। यह किसका प्रताप है? यह धर्म का प्रताप है। आत्मा का स्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है ऐसी धर्ममूर्ति के प्रति हम वंदन करते हैं। यह धर्म का ही तो माहात्म्य है। धर्म में ही समस्त प्रकार की अद्भुत सामर्थ्य पड़ी हुई है। दुनिया में जितनी चहल पहल है, पुण्य यश है, बड़ी-बड़ी व्यवस्थाएँ हैं यह सब धर्म का ही प्रताप है। धर्म बिना किसी भी जीव को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। धर्म ही धर्मात्मा पुरुषों को बड़े-बड़े सुख देने में समर्थ है। इस मनुष्यलोक में भी जितने भी प्रकार के सुख हैं, परिजन का सुख हो, बड़े भले मित्र मिले हों उन मित्रों के मिलने का सुख हो और लोक में बड़े-बड़े अधिकार मिले हों, ऐश्वर्य मिले हों उनका सुख हो, जितने भी सुख हैं वे सब धर्म के पालन के प्रताप से मिलते हैं।

**धर्म ही मुक्ति का मूल**—जीव क्या करेगा? सारी परवस्तुवें हैं, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है। समग्र वस्तु अपनी-अपनी योग्यतानुसार योग्यनिमित्त पाकर परिणमते रहते हैं। किसी वस्तु पर हमारा कोई अधिकार नहीं

है। हम किसी वस्तु में कुछ निष्पत्ति नहीं करते, फिर हम बाह्य वस्तु में करें क्या? हम जो कुछ कर सकते हैं अपने आत्मा में कर सकते हैं। सिवाय भावना के हम और करते क्या हैं? जब हम धर्म करते हैं तो वहाँ भी तो भावना ही करते हैं। भावना ही धर्म है। जब कोई व्यापार में लगता है तो क्या करता है। एक कल्पना ही तो करता है। कल्पना ही व्यापार है। घर में रहते हैं तो क्या करते हैं? एक कल्पना ही तो करते हैं, विकल्प ही तो करते हैं, और विकल्प ही मेरी व्यवस्था है। जो कुछ है वह आत्मा का परिणमन ही आत्मा के पास है। इससे आगे और कुछ नहीं है। तो वे ही विकल्प, वे ही कल्पनाएँ यदि धर्मात्मा पुरुषों के सम्बंध में उठती हैं तो वे शुभ विकल्प कहलाते हैं। वहाँ पुण्य बंध हुआ और पुण्य बंध का यह सब ठाठ है जो संसार में नजर आता है। तो धर्म के ही प्रताप से जीवों को सुख प्राप्त होता है। स्वर्गों में बड़े-बड़े देवों में इन्द्रों में जो महान्-महान् सुख हैं उन सुखों का कारण भी धर्म ही है। मुनि हुए बिना स्वर्ग से ऊपर उत्पत्ति नहीं है। 16 वें स्वर्ग तक श्रावक उत्पन्न हो सकता है पर स्वर्ग के ऊपर के जो विमान हैं उन विमानों में मुनि धर्म निभाये बिना उत्पत्ति नहीं होती हैं। चाहे नवग्रैवेयक में अज्ञानी मिथ्या दृष्टि मुनि भी उत्पन्न हो जाये पर वहाँ उत्पन्न होने के लिए कितनी मन्द कषायें होनी चाहिए और मन, वचन, काय का कितना संयम होना चाहिए जिसे मुनिधर्म में किया जा सकता है। तो मुनिधर्म बिना तो नवग्रैवेयक में उत्पत्ति नहीं होती। नवग्रैवेयक से ऊपर तो सम्यग्दृष्टि की ही उत्पत्ति होती है। स्वर्गों के सुख और स्वर्गों से ऊपर अहमिन्द्रों के सुख धर्म के प्रताप से मिलते हैं। और की तो बात क्या, धर्म बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती। धर्म का साक्षात् फल मोक्ष की प्राप्ति है। तो धर्म के प्रताप से जब मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है तो संसार के अन्य सुखों की तो बात ऐसी है जैसे अन्न प्राप्त करने वाले भुस को प्राप्त कर डालते हैं।

## श्लोक-221

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्टम् स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा।

यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं किमपरमभिधेयं नामधर्मं विधत्त॥221॥

धर्म के लक्षण अनेक पर भाव सबका एक—हे आत्मन् ! यदि तुझे नरक का रहना इष्ट नहीं है, नरक से दूर रहना चाहता है। यदि इन्द्रों जैसी महाविभूति प्राप्त करना चाहता है, अथवा 4 पुरुषार्थों को तू चाहता है। तो विशेष क्या कहा जाय। तो एकमात्र धर्म का सेवन कर। धर्म के 4 स्वरूप बताये गए हैं। एक तो जो वस्तु का स्वभाव है सो धर्म है। जैसे आत्मा का स्वभाव ज्ञान, दर्शन है तो शुद्ध ज्ञान दर्शन की वृत्ति होना यह आत्मा का धर्म है। एक तो वस्तुस्वभाव का नाम धर्म है, दूसरा बताया है क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक जो

10 प्रकार के विशुद्ध परिणाम हैं वे धर्म हैं। अब 10 धर्मों का तो इस भावना के प्रकरण में खूब वर्णन आ चुका है। तीसरा स्वरूप बताया है धर्म का रत्नत्रय धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अर्थात् आत्मा का यथार्थ विश्वास होना और जैसा आत्मा का सहज स्वरूप है, अपने आप जो अस्तित्व है उसमें जो स्वभाव पडा हुआ है उस स्वभाव की दृष्टि रखना, ज्ञान रखना और उस स्वभाव में मग्न होने का यत्न रखना यही रत्नत्रय है और धर्म है। चौथा स्वरूप बताया है दयामयी धर्म जहाँ अपनी दया और पर की दया का निवास है उसे धर्म कहते हैं। अपनी दया तो इसमें है कि विषयों की इच्छा न जगे और कषायों के वेग न उठें, क्योंकि विषयों की इच्छा होने से यह आत्मा बेचैन हो जाता है। और किसी भी प्रकार की कषायें उठती हैं तो यह आत्मा विह्वल हो जाता है। यदि कषायें न जगें, विषयों की इच्छा न बने तो समझो अपनी दया है। ये दो ही बड़े दुश्मन हैं आत्म के अहित विषय कषाय। विषय और कषाय ये दोनों ही आत्मा के शत्रु हैं। तो विषयों की इच्छा न जगे और कषाय न उत्पन्न हों यह आत्मा की दया है। अब सोच लो हम जितने भी धर्म के नाम पर काम करते हैं उन सब कामों में यदि ये 2 बातें बनती हैं तो यही धर्म है और यही अपनी दया है, और इसके लिए ही पूजा, जाप, स्वाध्याय सब कुछ किए जाते हैं।

**पूज्य के पूज्यत्व की पहिचान—पूजा—पूजा में भगवान अरहंत का स्वरूप विचारा जाता है। प्रभु शुद्ध हैं प्रभु सर्वज्ञ हैं, इसका अर्थ क्या है? समस्त दोष कालिमाओं से रहित जब तक प्रभु के निर्दोष स्वरूप की स्मृति न जगे तो हमने प्रभु की पूजा क्या की? हम पूजा करें और प्रभु में गुण क्या हैं? उसकी खबर न रहे तो वह पूजा क्या पूजा है? पूजा के मायने प्रशंसा गुणानुवाद। जो सही बात है उत्कृष्ट बात है उन गुणों का बोलना यही पूजा है। वे गुण हममें भी हैं तो उन गुणों का विकास हो यह प्रयोजन सिद्ध होता है इसलिए प्रभुपूजा की जाती है। मान लो प्रभु में कितने ही उत्कृष्ट गुण हों तो वे गुण उनके लिए हैं, हमारे लिए क्या हैं। यदि हम प्रभु के समान गुणस्वभाव वाले न हों तो प्रभु चाहे कितने ही ऊँचे गुणवान हों, उनकी पूजा से लाभ क्या होगा? हमें कुछ लाभ मिले तब तो पूजा का प्रयोजन है। प्रभु के गुणस्मरण से हमें लाभ यह होता है कि हमें अपने स्वरूप की सुध होती है। मैं भी तो प्रभु के समान अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति का धारी हूँ, कैसा मैं भेड़ बकरियों के बीच पले हुए सिंह की तरह कायर बन रहा हूँ? जैसे कोई गडरिया अपनी भेड़ बकरी चराने जंगल में गया तो वहाँ सिंह का बहुत छोटा बच्चा उसे मिल गया। उसकी माँ मर गयी हो या कहीं बिछुड़ गई हो। गडरिया ने उस सिंह के बच्चे को पकड़ लिया और अपनी भेड़ बकरियों में उसे रख लिया। वह सिंह का बच्चा बड़ा हो गया किन्तु अपने को उसी तरह जैसे भेड़ बकरियाँ रहती थी वैसा ही अपने को मानने लगा। एक बार एक शेर ने बड़ी जोर की हुंकार मारी तो गडरिया, बकरी, भेड़ सभी भागने लगे। वह सिंह का बच्चा सोचता है कि मैं भी तो इस ही की तरह का हूँ जिसकी हुंकार सुनकर ये सब भग रहे हैं। इतना ख्याल होते ही वह छलांग मारकर निकल गया, लो उसका सारा बन्धन छूट गया। वन में स्वतंत्र होकर विचरने लगा ऐसे ही हम आप संसार के सब आत्मा अनादि**

काल से विषय कषायों से मलिन हैं और विषय कषायों से मलिन आत्माओं में व्यर्थ रमा करते हैं। तो ऐसी आदत बन गयी है कि दूसरों को भी कायर देखते और स्वयं में भी कायरता का अनुभव करते।

**प्रभु भक्ति की उपादेयता**—मैं यह हूँ, मेरा तो यह काम है, मेरा यह परिवार है, इस प्रकार की व्यवस्था बनाना, परिग्रह का संचय करना, दूसरों की बात सहन करना पड़े तो सहन करना यह सब कायरता इन विषयों के लोभी पुरुषों में आ गयी, अब उस कायरता के आदी बन गए। जब भगवान के गुणों का यह स्मरण करता है और वहाँ अपने आपकी इसे सुध होती है ओह मैं भी तो प्रभु की तरह ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला हूँ। मेरा स्वरूप और क्या है? जो प्रभु का स्वरूप है वही मेरा स्वभाव है। आत्मीय ज्ञान और आनन्द इन दो गुणों का ही सब कुछ ठाठ है। रूप इसमें है नहीं, रस, गंध कुछ है नहीं, मिट्टी के डेले की तरह यह पकड़ा जाता नहीं। यह आकाश की तरह निर्लेप, अमूर्त किन्तु जानने देखने के स्वभाव वाला यह एक अनुपम तत्त्व है। तो मेरा स्वरूप भी ज्ञान और आनन्द है। ज्ञान और आनन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ मुझमें है ही नहीं। अन्य जो कुछ हमारे साथ लेप होते हैं वे सब पुद्गल हैं। मैं इन सब परतत्त्वों से भिन्न केवल ज्ञानानन्दमात्र हूँ, ऐसी दृष्टि जगती है प्रभु के गुण स्मरण में, प्रभु की भक्ति में तो इसीलिए हम प्रभु भक्ति करते हैं कि हमें अपने आपका वहाँ लाभ होता है।

**इष्ट सिद्धि का मूल धर्म**—जहाँ विषय और कषाय ये दोनों परिणाम मिटें वही है अपनी दया और जो अपनी दया पाले हुए है उसके निमित्त से दूसरे पर कोई उपद्रव नहीं है। और दूसरे की दया रखता है, दूसरे को कैसे शान्ति मिले, कैसे आराम मिले उसके विरुद्ध यह कुछ नहीं सोचता है बस यही परदया है। तो धर्म का चौथा स्वरूप है दयामय होना। तो इन चार स्वरूपों में बात एक ही पायी जाती है आत्मा का विशुद्ध परिणमन। आत्मा को जो निर्मल परिणमन है वही धर्म है। उसी धर्म के प्रताप से यह जीव मोक्षपुरुषार्थ की भी सिद्धि करता है। तो हे आत्मन् ! यदि तुझे नरक गमन इष्ट नहीं है। इन्द्र के जैसा महान् वैभव पाना इष्ट है तो 4 पुरुषार्थों में से अन्तिम जो मोक्ष पुरुषार्थ है उसका तेरा वादा है तो इस सब सिद्धि के लिए अनेक बातें क्यों बतायें, एक ही उपाय है कि तू इस धर्म का सेवन कर। यह धर्म ही सर्व प्रकार से तेरी रक्षा करता है और सर्व प्रकार के इष्ट तत्त्वों की प्राप्ति कराता है।

**धर्म के सिवाय अन्य में शरणत्व का अभाव**—अब अपने को इस धर्मभावना के भाने से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि हमारा इस लोक में अन्य कोई शरण नहीं है, किसकी शरण जायें? खुद का श्रद्धान्, ज्ञान और आचरण यदि धर्म रूप है तो दुनिया के अन्य पदार्थ भी इसकी रक्षा के साधन बन जायेंगे। यदि खुद में धर्म नहीं है तो कैसी भी स्थिति कोई प्राप्त कर ले लेकिन जब पाप का उदय आयगा तो सब मुख मोड़ लेंगे, कोई रक्षा करने वाला न होगा। एक मात्र धर्म का सहारा लें। धर्म के प्रताप से इस भव में भी अनेक समृद्धियों की सिद्धि होती है और के बाद भी इस धर्म के प्रताप से अनेक अनुपम सिद्धि जगती हैं और अन्त

में इस धर्म का सहारा लेने से मुक्ति प्राप्त होती है। भला सोचो कि जहाँ शरीर भी दूर हो जाय, विकार दूर हो जायें, केवल आत्मा ही आत्मा रहे ऐसी सिद्ध दशा प्राप्त होती है वहाँ आकुलता का कोई काम रहता है क्या? भूख, प्यास शरीर की वजह से होती है। शरीर न रहे तो भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि की कोई वेदना ही न रहे। ये सब वेदनाएँ तो शरीर में आत्मबुद्धि करने से होती हैं। जहाँ शरीर ही न रहे, विकार ही न रहे केवल ज्ञानस्वरूप ही बस रहा है, अनन्त आनन्दमयता का अनुभव चल रहा है वहाँ सम्मान, अपमान की वेदना, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदिकी वेदना का क्या काम है?

धर्म से ही संकटों के विनाश की संभवता—जगत के जितने भी क्लेश हैं वे सब अधर्म के कारण हैं। परवस्तु को यह में आत्मा हूँ, ऐसा मानना अधर्म है। अपने आपके विकार को यह मेरा कर्तव्य है, यह मेरा काम है इस प्रकार इन परभावों में आत्मीयता की बात मानना अधर्म है। अब सोचते जाइये हमें जब-जब भी क्लेश होते हैं अधर्म के कारण होते हैं। ज्ञान यदि सही बना रहे, भेदविज्ञान बना रहे वहाँ क्लेश का कोई काम नहीं रह सकता। यदि समस्त संक्लेशों से, समस्त संसार के संकटों से निवृत्त होना है तो अपना मूल कर्तव्य है यह कि हम धर्ममार्ग में लगे, धर्मरूप अपना आचरण बनायें तो सर्व प्रकार से सुख हो सकता है। देखिये धर्म तो चीज एक ही है। और यह मोक्षरूप में केवल शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप है किन्तु व्यवहारनय की प्रधानता करके जब सोचते हैं तो हमें धर्म का स्वरूप, धर्म की महिमा, धर्म का फल ये सब जानना चाहिए। जब हमें धर्म के सम्बन्ध में सब तत्त्वों का ज्ञान होगा तो हम धर्म की भावना कर सकेंगे और धर्म भावना में सफल हो सकेंगे।

## श्लोक-222

यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतराः।

जीवादयः सलोकः स्यात्ततोऽलोको नमः स्मृतः॥222॥

लोकस्वरूप का दिग्दर्शन—बारह भावनाओं में यह लोक भावना है। लोक किसे कहते हैं? जितने आकाश में चेतन और अचेतन पदार्थ देखे जायें उसको लोक कहते हैं। और उसके परे जो हैं वह अलोक हैं। लोक शब्द का अर्थ देखना है। जैसे हिन्दी में कहते हैं, क्या तुम लुकलुककर देखते हो, तो लुक धातु का देखना अर्थ है और लुक से बना है लोक। यानि जहाँ पर सभी पदार्थ देखे जायें उसका नाम है लोक और

उससे बाकी जितना भी बचा हुआ है चारों ओर वह है अलोक। लोक में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल 6 द्रव्य हैं, और अलोक में केवल आकाश है। तो जहाँ छहों द्रव्य पाये जायें उसका नाम है लोक और उससे बाहर जितना भी आकाश बचा है वह सब है अलोक। तो लोक की कैसी रचना है, लोक को किसने बनाया है अथवा नहीं बनाया है, वह लोक कब से चला आ रहा है, किसके बल पर चला आ रहा है, इस लोक की कैसी रचना है, कैसा आकार है और लोक में बहुधा काम क्या हुआ करता है, इन सब बातों का वर्णन इस लोक भावना में आयगा।

**लोकभावना के उपलब्ध मुख्य शिक्षा**—लोक भावना भाने से शिक्षा यह मिलती है कि हे आत्मन् ! इस लोक में जो कि इतना बड़ा है इसमें एक भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा है जहाँ यह जीव अनन्त बार पैदा न हुआ हो और मरा न हो। जब इस लोक में प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार पैदा हो चुके, अनन्त बार रह चुके और इस लोक में अनेक बार अनेक समागम हुए तब कहाँ ममता करते हो, किस चीज में ममता करते हो? यहाँ जीव वह दुःखी है जिसके ज्ञान की दृष्टि नहीं बन रही और जिसके ज्ञान की दृष्टि बनी वह सुखी है धन वैभव से सुख शान्ति नहीं मिलती है। जितनी ज्ञान की ओर अपनी निगाह हो उतना तो आनन्द है और जितनी अज्ञानमय जैसी बात वह सब क्लेश है धन से सुख होता हो तो देख लो करोड़पति तो दुःखी और खोंचा लगाकर अपने बच्चों का पेट पालने वाले गाते हुए बड़ी मस्ती से मिलेंगे। तो धन से सुख नहीं है यह तो अपने-अपने ज्ञान की बात है। तो लोकभावना भाने से यह शिक्षा मिलती है। अब इस लोक के सम्बन्ध में आकार कैसा है? उसका इसमें वर्णन करते हैं।

### श्लोक-223

वेष्टितः पवनैः प्रान्ते महावेगैर्महाबलैः।

त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थितिः॥223॥

**लोक का आकार**—लोक की रचना, एक सीधे ढंग से समझना चाहें तो ऐसा ख्याल करें कि 7 लड़के बराबरी के एक के पीछे एक खड़ा हो और वे सातों लड़के पैर फैलाये हों और कमर पर हाथ रखें हों तो जो शकल उस समय उस बाल सेना की बनती है वही शकल लोक की है। जैसे मान लो एक लड़का जितना ऊँचा है उस ऊँचाई के 14 भाग करो, मान लो 14 राजू ऊँचा लोक है तो इतनी ही ऊँचाई उन बालकों की

है और जितना लम्बा बालक है, उससे आधी चौड़ाई उसके पैर फैले हों तो मानो 7 राजू नीचे चौड़ा है, नीचे सब जगह टेहुनी के पास सात-सात राजू हैं, क्योंकि 7 बालक खड़े हों तो सामने से देखने पर यों दिखेगा कि सामने से 7 राजू हैं और ऊपर घटते-घटते एक राजू रह गया, फिर इतना शुरू हुआ। तो कुछ बाहर चलकर 5 राजू हो गया जहाँ तक कि टेहुनी है और ऊपर घटते-घटते एक राजू रह गया। सामने से तो यों दिख रहा है पर बगल से देखो तो सब जगह 7, 7 राजू हैं? तो यह तो है लोक की रचना। इस लोक के अन्तिम भाग में क्या है? कैसे यह लोक सधा हुआ है तो उस लोक के अन्तिम भाग में सर्वत्र चारों ओर 3 प्रकार की हवायें हैं उन हवाओं का नाम है घनवातवलय, घनोदधिवातवलय, तनुवातवलय। लोक के बिल्कुल अन्त में पतली हवा है, फिर मझोली फिर उसके भीतर खूब दृढ़ हवा है, तो इन हवाओं का फैलाव है। हवाएँ 3 प्रकार की है जिनसे यह लोक सधा हुआ है। इसके आकर को हम ताड़ वृक्ष के आकार से तुलना कर सकते हैं। जैसे ताड़ का वृक्ष नीचे तो चौड़ा रहता है फिर घटकर पतला हो जाता है फिर बढ़ता है और फिर अन्त में ऊपर घट जाता है। इस प्रकार के आकार वाला यह लोक है।

**लोकसमागम के यथार्थ निर्णय से विषाद का अनवकाश—**आजकल के लोग जितनी दुनिया मानते हैं वह दुनिया तो यों समझिये कि जैसे लाख कौश की जमीन के बीच एक पानी का बूँद पडा हो उतनी बड़ी हैं, लोक तो इस परिचित दुनिया का अनन्त गुना है, उस लोक के प्रत्येक स्थान पर हम आप हो आये हैं, और इस लोक में जितने भी समागम हैं सब समागम कई बार मिल चुके हैं। जगत में जितने जीव हैं वे सब जीव मित्र बन चुके, वे सब जीव शत्रु बन चुके जिसे हम शत्रु के रूप में देखते हैं वह कितने ही बार मित्र रह आया है और जिसे आज मित्र के रूप में देखते हैं वह कितने ही बार हमारा शत्रु रह आया है, और वास्तव में न कोई शत्रु है और न मित्र है, लेकिन समागम सबका अनेक बार हुआ। तो ऐसा जानकर यह ख्याल करो कि वर्तमान में जो भी समागम मिले हैं वे सब भी हमारे कुछ नहीं हैं, ऐसे-ऐसे समागम तो अनेक भवों में मिलते आये हैं, बिछुड़ते आये हैं, जो अपने जीवन में मिले हुए समागमों में राग बनायेगा, स्नेह बढ़ायेगा यह तो निश्चित है कि जो कुछ मिला है उसका वियोग जरूर होगा, किसी के टाले नहीं टल सकता वियोग। पर जब वियोग होगा तो कितना दुःख उठाना पड़ेगा इस रागी को। तो वियोग के समय में हमें क्लेश न हो ज्यादा, इसका अभ्यास अभी से करना चाहिए। जब तक संयोग है, समागम है तब तक भी भावना बना लें, मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र मैं आत्मा हूँ, यह है आत्मा की असली कमाई। जो यह भाव भरता रहे कि मेरा मात्र मैं हूँ उसकी असली कमाई है। जिनका समागम हुआ है उनका जब वियोग होगा तो उस भावना के कारण पहिले से जो अभ्यास है ना, इस वजह से दुःख न होगा।

## श्लोक-224

निष्पादितः स केनापि नैव नैवोद्धतस्तथा।

न भग्नः किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः॥224॥

**लोक की अनादिनिधनता**—अनेक पुरुष इस लोक की रचना के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ लगाते हैं। कोई कहते हैं कि ईश्वर ने बनाया, कोई कहते हैं कि यहाँ पहले समुद्र ही था, सूर्य ही था, फिर वह पानी हट गया, पृथ्वी पैदा हुई, फिर उसी समुद्र के जो जानवर थे वे ही विकास को प्राप्त होकर पक्षी बने, पशु बने फिर मनुष्य हो गए। कोई कुछ कहते कोई कुछ, पर यथार्थ बात यह है कि यह लोक किसी के द्वारा बनाया गया है ही नहीं, यह तो अनादि निधन है, चला आया है। कल्पना करो आप लोगों का कोई पिता तो है ही, पिता बिना तो आप पैदा नहीं हुए, उस पिता का भी कोई पिता होगा यों ही लगाते जावो कोई पिता ऐसा न मिलेगा जो बिना पिता का हो। तो पिता की परम्परा जब सोचते हैं तो मालूम होता है कि यह प्रारम्भ से ऐसा ही चला आया है। किसे बतायें कि सबसे पहिले पिता कौन था जिसके बाप ही न हुआ हो। आज जो वृक्ष खड़ा है यह किसी फल से ही तो पैदा हुआ और वह फल वृक्ष से वह वृक्ष फल से। तो जैसे वृक्ष और बीज की यह परम्परा अनादि से है ऐसे ही यह समस्त लोक समस्त पदार्थ अनादि से बने हुए हैं। दूसरी बात यह सोचो कि कोई पदार्थ बनता है तो कुछ था पहिले उससे ही तो बना। घड़ा बना तो पहिले मिट्टी तो थी। कुछ भी बीज बने तो असत् से नहीं बनती। कुछ सत्त्व हो उससे बनती है तो नया सत् कभी उत्पन्न नहीं होता। जो है ही नहीं कुछ और हो जाय कुछ ऐसा तो होता ही नहीं है। तब जितने जो कुछ भी पदार्थ हैं, हम आपको दिखते हैं व सत् हैं और अपने आप सत् हैं, अनादि काल से वे सत् हैं और पदार्थ के समूह का ही नाम लोक है, जगह का नाम लोक नहीं। जगह भी एक पदार्थ है। पर पदार्थों के समूह का नाम लोक हैं, इस लोक को किसी ने उत्पन्न नहीं किया, वह तो अनादि निधन है।

**तीन वातवलियों के आधार पर लोक की स्थिरता**—कोई पुरुष ऐसा मानते हैं कि इसे बनाया तो किसी ने नहीं, किन्तु इसको कोई थामे हुए है। कोई मानते कि यह पृथ्वी कीली पर थमी है, कोई कहते कि यह पृथ्वी शेषनाग पर थमी है परन्तु थमी किसी पर नहीं है। इस पृथ्वी के चारों ओर जो तीन प्रकार की हवा है उस हवा पर यह सब सधा हुआ है। एक ठेले में ढाई तीन सौ मन का भार लादा जाता है, और वह ठेला रखा है पहियों पर। पहियों में है क्या? हवा। तो हवा में कितनी शक्ति है जरा अंदाज तो करो, कहने को तो यों लगता है कि हवा है, हवा में क्या शक्ति है? और देख लो मोटर ठेलों के पहियों में हवा भरी रहती है तो बहुत बोझा ढोने पर भी वह पहिया नरम नहीं होते। तो हवा में कितना ही भार झेलने की सामर्थ्य है, फिर

यह जीन लोक के भार को झेलने वाली सामान्य हवा नहीं है, यह हजारों धनुष से मोटी हवा है। उन हवा पर यह लोक सधा हुआ है, इसे किसी ने भी रख नहीं रखा है। कोई लोग मानते हैं कि यह लोक कछुवे की पीठ पर है, जो कच्छप अवतार मानते हैं वे मानते हैं कि कछुवा पर यह पृथ्वी सधी है। उनको यह जँचा कि कछुवे की पीठ बड़ी कड़ी होती है उस पर कितना ही वज़न रख लो। कछुवा अपनी चोंच अगर भीतर डाल ले तो फिर कितने ही डंडे मारो उसको कुछ असर नहीं होता। उसका जो गला निकला रहता है वह बहुत कोमल होता है, उसमें जरा सा भी घात हो जाय तो मरने की नौबत है। तो कछुवे की पीठ बहुत दृढ़ होती है। पुराने समय में लोग कछुवे की पीठ की ढाल बनाते थे जिस पर तलवार चले तो असर नहीं होता। सोचा कि ऐसा कौनसा जानवर है जो अपनी पीठ पर इतनी बड़ी जमीन लादे हुए है, कई लोग मानते हैं कि कछुवे की पीठ पर यह लोक सधा है। कुछ लोग मानते हैं कि यह लोक शेषनाग के फन पर ठहरा है, पर यह उनका कोरा भ्रम है, यह तो स्वयं सत् है, किसी जानवर पर नहीं सधा है। तीन तरह की हवा है उस पर सधा हुआ है और इसका आधार कुछ है ही नहीं, ऐसी तर्कणा क्यों करते हो कि बिना आधार के यह लोक आकाश में कैसे ठहरेगा, भग्न हो जायेगा। भग्न नहीं होता, निराधार है, वह तो आकाश में वातवलयों के आधार पर स्वयं अपने आप ठहरा हुआ है, यह लोक।

**आत्मज्ञान बिना लोक में भ्रमण व शान्ति का अभाव—**इस लोक में यह जीव अपने आत्मा का ज्ञान न पाने से अब तक भ्रमण करता आया है। इस लोक में कितने प्रकार के शरीर हैं, उनको गिनाया नहीं जा सकता। असंख्याते प्रकार के शरीर हैं, उन सब शरीर में यह जीव जन्म ले चुका है। और अज्ञानवश भ्रमता चला आया है। इस जीव से सदा के लिए शरीर और ये कर्म छूट जायें इसका कोई उपाय है मूल में तो वह भेदविज्ञान है। हम अपने को सबसे जुदा समझ लें तो ये शरीर और कर्म जुदे हो जायेंगे। हम तो करें परद्रव्यों से प्रीति और चाहें कि इनसे छुटकारा हो जाय तो कैसे छुटकारा हो जायेगा? यह लोक है, अनेक पदार्थों का समागम है यह सब एक मेले की तरह है। आज आये कल चले जायेंगे, सदा कोई ठहरने का नहीं है, यह बड़ा विवेक है जो ऐसा मानता रहे कि मेरा तो देह भी नहीं, मेरा तो मात्र मैं आत्मा हूँ। इस मान्यता में मरण का भी भय नहीं रहता। कभी ऐसी स्थिति आ जाय कि जिसमें ऐसा लगे कि अब तो हमारा मरण होने वाला है। अरे तो मरण होने का नाम क्या है? इस देह को छोड़कर चले गए, देह को छोड़कर चले जायें तो इसमें हमारा नुकसान क्या हुआ? चले गए बल्कि देह पुराना हो गया था, बड़े दुःख का कारण था, अब इसे छोड़कर जा रहे हैं, अब कोई नया देह मिलेगा तो इसमें नुकसान क्या हुआ? यह सब घर वैभव छूटा जा रहा है, बहुत चाव से दुमंजिला तिमंजिला मकान बनवाया, बड़े ठाठ का रहन-सहन था, अब एकदम यहाँ से जाना पड़ रहा है। अरे जाना पड़ रहा तो क्या हानि है? समता से जाय तो यहाँ से भी बढ़िया कीमती मकान वैभव मिलेगा और मिले या न मिले, यहाँ भी क्या मिला था, केवल मिलने की कल्पना ही तो कर रहे थे। यह तो जैसा अकेला था वैसा ही है, वही अकेलापन रहेगा। तो अपने को सबसे निराला अकेला

ज्ञानस्वरूप समझने से जीव को शान्ति मिलती है, आनन्द मिलता है और वास्तविक बात भी यही है, लो छूटा तो जा ही रहा है यह सब, पर छूटा जा रहा है तो छूटने दो, जब तक पास में है तब तक भी मेरा नहीं है, मेरा तो मात्र मैं आत्मा हूँ ऐसी भावना बने तो समझो कि हमारी लोकभावना सफल है।

**लोकभावना से स्फुट शिक्षायें**—इस भावना में हम कोई शिक्षा ग्रहण करें तो प्रथम तो यह कि इस लोक में कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ अनन्त बार जन्म-मरण न हुआ हो, फिर क्षेत्र का क्या लालच करना? दूसरी बात यह समझिये कि यहाँ जो कुछ भी समागम मिला है यह समागम तो अनेक बार मिल चुका था और जो भी वैभव मिला है इसे तो अनेक बार भोग चुके थे। यह कोई अनूठी सम्पदा नहीं है और फिर सदा रहने वाले भी नहीं, क्षणिक आये हैं, विघट जायेंगे। तो जो क्षणिक में विघट जाय ऐसी सम्पदा में ममता करने से क्या लाभ है? बड़ा विवेक चाहिए, ज्ञानी पुरुष के बहुत बड़ा साहस होता है। जगत चाहे किसी रूप प्रवर्ते किन्तु ज्ञानी जीव अपने साहस को नहीं छोड़ता, ज्ञानी में भय उत्पन्न नहीं होता, जो होता है मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहता है। तो यह शिक्षा लेना है लोकभावना भाकर कि हम संयोग के काल में भी पदार्थों में राग न करें, यथार्थ बात जानते रहें कि मेरा तो यहाँ कुछ भी नहीं है। मेरा ही स्वरूप मेरा है जो मुझसे कभी अलग न हो। अब लेते जाइये, यह वैभव तो प्रकट अलग हो जाता है, अलग भी दिख रहा है। यह देह भी अलग होगा, ऐसा हमने अनेकों का देखा है। अनेक लोग मर गए, पर यह देह साथ में कभी नहीं गया। लोग इस देह को देखकर सजीव अवस्था में प्रेम और मोह करते हैं, जीव के निकल जाने पर इस देह को निष्ठुर होकर जला डालते हैं। उसमें निष्ठुरता की क्या बात, उसे समझ रहे हैं कि यह तो निर्जीव है, तो देह भी मेरा नहीं, वैभव मेरा नहीं और कर्म मेरे नहीं, कामादिक विकार मेरे नहीं, मैं तो केवल एक ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसी दृष्टि आये तो हमारी बारह भावनाएँ सफल हैं।

**लोकस्वरूप का पुनः स्मरण**—लोकभावना में लोक का स्वरूप दिखाया जा रहा है, न इसे किसी ने बनाया, न किसी ने अपने कंधे पर धरा और न यह कभी भग्न हुआ न गिरा न मिटा, आधार भी कुछ न था, पर हाँ आधार सबसे बड़ा है तो तीन प्रकार के वातवलयों का है। उन वातवलयों के आधार पर यह लोक टिका हुआ है जहाँ पर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये 6 प्रकार के द्रव्य रहते हैं, ऐसी लोक की भावना करके लोक का विचार करके हम ऐसा प्रतीति में लेते रहें कि इस लोक में कहीं भी कुछ भी सार वस्तु नहीं है। मेरा सार तो मुझमें ही है, इसलिए इस ही ज्ञानानन्दस्वरूप की भावना करना चाहिए।

## श्लोक-225

अनादिनिधनः सोऽयं स्वयंसिद्धोऽप्यनश्वरः।

अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम्॥225॥

**लोक की स्वयंसिद्धता**—यह लोक अनादिनिधन है अर्थात् काल की अपेक्षा न इस लोक का आदि है और न अन्त है। अनादि निधन जो भी होगा वह स्वयं सिद्ध हुआ करता है। समस्त पदार्थ स्वयं सिद्ध हैं, किसी भी पदार्थ की सत्ता किसी अन्य ने उत्पन्न नहीं की। तो स्वयं सिद्ध पदार्थ का जो समूह है उसी का नाम लोक है। तो जब पदार्थ स्वयं सिद्ध हैं, तो लोक भी स्वयं सिद्ध हुआ और अनादि निधन हुआ। प्रत्येक पदार्थ चूँकि स्वतंत्र है, किसी भी पदार्थ का कोई अन्य पदार्थ ईश्वर नहीं है, पदार्थ में यह स्वरूप ही पडा हुआ है, तो पदार्थों का समूह यह लोक है, इसका भी कोई ईश्वर नहीं है अर्थात् इसका भी कोई अधिकारी अथवा कर्ता नहीं है। समस्त पदार्थ अपने-अपने अधिकारी हैं, अपने-अपने सत्त्व से पूर्ण हैं। अभाव 4 प्रकार के बताये गए हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। यह अभाव की व्यवस्था भी इस बात को बताती है कि प्रत्येक पदार्थ में अपने ही पर्यायों की अपेक्षा तो उत्पाद व्यय है, अपने में ही अपनी पर्यायों का आगमन निर्गमन है, किन्तु किसी भी अन्य पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ में आगमन नहीं है।

**अभावों का भाव**—अभाव 4 प्रकार के बताये गए हैं, ये अभाव सभी सद्भाव रूप हैं। वस्तु की जो पहिली पर्याय है उस पहिली पर्याय में उत्तरपर्याय का अभाव है। इसलिए पहिली पर्याय का ही नाम प्रागभाव है। किसी भी वस्तु की पहिली पर्याय में उत्तर पर्याय का अभाव है प्रध्वंसाभाव का अर्थ है वर्तमान पर्यायों का विनाश होने पर जो अभाव हुआ है, अर्थात् आगामी काल में पूर्व पर्याय का अभाव होना, जैसे घड़ा फूटकर खपरियाँ बन गई तो खपरियों की अवस्था में घट का प्रध्वंसाभाव है। इन दो अभावों से यह उत्पाद और व्यय की सिद्धि जानी जा सकती है। तीसरा अभाव है अन्योन्याभाव, जो द्रव्य द्रव्य का तो नहीं है, अत्यन्ताभाव तो नहीं है, पर जो कभी बन सकता है किन्तु इस समय नहीं है वह अन्योन्याभाव है। जैसे घड़ा और कपड़ा ये दो वस्तुवें हैं किन्तु घड़ा कभी कपड़ा बन सकता है, कपड़ा कभी घड़ा बन सकता है। किन्तु अत्यन्ताभाव में तो त्रिकाल अभाव है, जीव में पुद्गल का त्रिकाल अभाव है, पुद्गल में जीव का त्रिकाल अभाव है और इतना ही नहीं, द्रव्य दृष्टि से प्रत्येक जीव में त्रिकाल प्रत्येक जीव का अभाव है। समस्त पुद्गल आदिक का अभाव है, प्रत्येक परमाणु में अन्य समस्त परमाणुओं का अभाव है, समस्त जीवादिक का अभाव है।

**अभाव के विज्ञान से प्राप्तव्य शिक्षा**—यह अभाव की दृष्टि हमें यह शिक्षा देती है कि किसी भी पदार्थ का कोई अन्य पदार्थ ईश्वर नहीं है। जरा अपने आपके स्वरूप पर भी ध्यान दो, जब हम कभी भी दुःखी होते हैं तो कल्पनाएँ बनाकर दुःखी हुआ करते हैं। दूसरे लोग तो किसी भी दूसरे को देखकर यह समझते हैं सीधे तौर से कि इसे कोई भी क्लेश नहीं है, पर वह अपने ही मन में कल्पनाएँ बना-बनाकर दुःखी होता

रहता है दुःखी होने की जरूरत क्या थी किस बात पर दुःखी हुआ जा रहा है। वैभव की बात यह है कि चाहे बहुत हो चाहे थोड़ा हो, छोड़कर सब जाना है। रही यह बात कि लोग सोचते हैं हमारे संतान को तो वैभव मिल जायेगा, तो मरने पर कौन किसका संतान है? यहाँ लोकव्यवहार में भी थोड़ी कल्पना करके मानते हैं अन्यथा बताओ आपके पूर्व भव के माता-पिता, पुत्र कहाँ हैं? अथवा पूर्व भव के वैभव से आपका अब कुछ सम्बन्ध रहा क्या? जो जीव पूर्व भव में पुत्र रहा होगा कहो वही जीव आज कहीं शत्रु के रूप में हो, जिसे आज तक पुत्र के रूप में मानते हैं, परभव में या इसी भव में आगामी काल में शत्रुता का रूप वह रख सकता है। कषाय की तो बात है। जब कषाय जग जाये तब ही विरोधी बन जाता है जीव। इस ही भव में बड़े उपकारी की भी आन खो देता है यह जीव। जब कषाय का उदय होता है तो विनय सब खत्म हो जाता है। उसे कितना लाड़-प्यार से पाला, कितना उसे चतुर बनाया, पर उन सारे उपकारों पर वह पानी फेर देता है। किसी भी पदार्थ का कोई अन्य अधिकारी नहीं है।

**लोक के विषय में लोगों की कल्पना**—पदार्थ का समूह ही यह लोक है तो लोक का भी कोई अधिकारी नहीं है। लोक कुछ अलग चीज नहीं है। जैसे लोग कहा करते हैं, संसार में अनेक मनुष्य हैं तो संसार कुछ अलग हुआ, मनुष्य कुछ अलग हुए। जैसे व्यवहारीजन अपने मन में आशय रखते हैं, लो यह तो है संसार, जो पोल सी दिख रही है यह है मनुष्य। छह द्रव्यों का जहाँ तक निवास है, जो पिण्ड है उसी का नाम लोक है। तो यह लोक जीवादिक पदार्थों से खूब दृढ़ भरा हुआ है। लोक की रचना के सम्बन्ध में अनेक लोग अनेक कल्पनाएँ करते हैं। कोई कहता है कि यह पृथ्वी नारंगी के समान गोल है चारों ओर से और पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर रहता है और उसमें भी अनेक प्रकरण ऐसे टूट निकाले गए हैं कि कुछ हिस्सा पृथ्वी के ऊपर बसा है, कोई देश पृथ्वी के नीचे बसे हैं, एक जगह दिन जब होता है तो उसी समय दूसरी जगह रात होती है। इन सब बातों से यह विदित होता कि पृथ्वी नारंगी की तरह गोल है और भी कल्पनाएँ लोग करते हैं किन्तु जैन सिद्धान्त में जो बात प्रतिपादित है वैज्ञानिक जन उनके आधार पर खोज करें तो बड़ी सफलता मिलेगी। अविष्कारक लोगों की थोड़ी इस ओर दृष्टि नहीं है, और जिनकी दृष्टि है, जिन्हें ज्ञात है वे अविष्कार के क्षेत्र में नहीं है और जो अविष्कार के क्षेत्र में हैं उनकी इस ओर दृष्टि नहीं दिलायी जाती। यदि उन्हें इस ओर दृष्टि दिलायी जाय तो वे विदित करेंगे कि यह समस्त पृथ्वी एक ओर थाली के समान समतल है और जम्बूद्वीप इस मध्य लोक के बीच में जो गोल-गोल है उसके एक किनारे भरत क्षेत्र है, उसमें 5 खण्ड हैं, उनमें से जो एक आर्य खण्ड है उस आर्य खण्ड में ही आज की सारी दुनिया एक कोने में समायी हुई है।

**पृथ्वी के गोल का कारण**—यह पृथ्वी गोल है ऐसा उनमें विकल्प क्यों हुआ? उसका कारण यह है कि इस हुंदावसर्पिणी काल में यह पृथ्वी केवल आर्य खण्ड में मल बन गयी है और यह पृथ्वी करीब 4 हजार कोश ऊँची समतल से उठ गई है तो इतनी ऊँची उठ जाने से गोल बन गयी और यों समझिये कि अर्द्ध गोल सा उठा बना लिया। यह मलमा भी ऐसी विचित्र बना है कि मूल में घेरा थोड़ा लेकर उठा है और बीच

में घेरा अधिक हो गया है। अब इतनी पृथ्वी ऊँची उठ जाने से सूर्य का जो उदय होता है वह एक ओर से निकले तो जिस ओर से सूर्य है उस ओर दिन रहा तो दूसरी ओर अँधेरा सा रहा, यों सभी प्रश्नों का समाधान मिलेगा, लेकिन वे वैज्ञानिक लोग इस दृष्टि को लेकर कुछ निरीक्षण करें तो। बात यह है जैसे रेल में बैठे हुए लोगों को जो बड़ी सावधानी से चल रही है, जिसमें हिलना डुलना नहीं है, ऐसा लगता है कि ये पेड़ खूब तेजी से जा रहे हैं और अपने आपकी स्थिरता मालूम होती है। नाव में भी यही हिसाब रहता है। तो चाहे कल्पनाओं से सूर्य को चलना मानें अथवा पृथ्वी का चलना मानें, सूर्य को स्थिर मानें तो भी ज्योतिष का हिसाब सही बैठ जायेगा। कल्पना की तो बात है और पृथ्वी स्थिर है, सूर्य चलता है, यों निरखा करें तो भारत में प्रारम्भ से ज्योतिष बना हुआ है। लोक के विषय में अनेक कल्पनाएँ लोग करते हैं। लेकिन अनन्त तीर्थङ्करों की परम्परा का व्याख्यान चला आया हुआ यह लोक का निरूपण एक बहुत विशाल है और लोक के निरूपण के सम्बन्ध में तो एक बड़ा शास्त्र विस्तार है।

**जीवादि पदार्थों से पूर्ण लोक**—यह लोक जीवादिक समस्त पदार्थों से गाढ़ा भरा हुआ है। इस लोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा जहाँ में अनन्त बार उत्पन्न न हुआ होऊँ। इस लोक में ऐसा कोई समागम नहीं बचा जो हमने पाया न हो, इस लोक में ऐसा कोई भोगने को अणु नहीं बचा जिसे हमने अनेक बार भोगा न हो। लेकिन मोह की विचित्र लीला है कि जो कुछ आज मिला है वह प्रकट असार है, क्लेश का ही कारण है लेकिन उस ही असार वैभव में इतनी तीव्र ममता लगाये हुए हैं कि सर्व बाह्य विकल्पों से उठकर एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व के अनुभव में उत्साह नहीं जगता। ऐसा मूर्छा का रंग जगत के जीवों पर बना हुआ है कि लोकभावना से हम यही तो शिक्षा लें कि अब मुझे इन लौकिक समागमों से कुछ प्रयोजन नहीं है। हमने जान लिया सब कुछ यथार्थ जो जैसा है। यह लोक अनादि निधन है, स्वयं सिद्ध है, अविनाशी है इसका कोई कर्ता धर्ता ईश्वर नहीं है और ये जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल 6 जाति के पदार्थों से भरा हुआ है।

**अन्तर्द्वन्द्व क्षोभ का मूल अज्ञानता**—भैया ! किसी भी तत्त्व का स्पष्ट ज्ञान हो तो अन्तरङ्ग में निर्भयता सी रहा करती है, निराकुलता रहा करती है, लेकिन जब यथार्थ ज्ञान नहीं होता तो अज्ञान के ही कारण इसके अन्तःद्वन्द्व क्षोभ और एक बेसुधी सी बनी रहती है। हम क्या हैं, कैसे हैं, क्या होंगे इन सब बातों का ज्ञानी जीव को किसी भी रूप में, प्रत्यक्ष रूप में, परोक्ष रूप में जब यथार्थ परिचय होता है तो उसके विह्वलता नहीं जगती। जैसे मोही पुरुष किसी इष्ट के वियोग होने पर ऐसा मानते हैं कि हमारी तो दुनिया ही लुट गयी, अब मैं कुछ भी नहीं रहा, मेरा जीना बेकार है और कितने ही लोग तो इस वियोग से दुःखी होकर आत्मघात भी कर डालते हैं, किन्तु ज्ञानी जीव को तो सर्वविदित है। क्या था। कोई वह भी मायारूप था जिसका वियोग हो गया, जीव द्रव्य था, शरीर के स्कंध थे, कर्मों की वर्गणायें थी, उन सबका वह पिण्ड था, असमानजातीय द्रव्य पर्याय था, उस पर भी अलग-अलग द्रव्यों पर विचार करें तो उस जीव से तो कोई

वास्ता नहीं, वह तो अमूर्त है, चेतन है, नामरहित है, उससे तो व्यवहार ही नहीं बनता और कामार्णवर्गणाओं से व्यवहार क्या और शरीर स्कंध से व्यवहार क्या, अचेतन है तो फिर अब कर क्या रहा था इस इष्ट के साथ, कुछ नहीं कर रहा था, अज्ञान कर रहा था, मूढ़ता का विकल्प कर रहा था। मोही जीव इष्ट वियोग में विह्वल रह-रहकर अपना सारा जीवन खो देता है। यदि सुख चाहिए, शान्ति चाहिए तो सभी पदार्थों का यथार्थ निर्णय रखना चाहिए, यह है सबसे उत्कृष्ट बुद्धि हम आप लोगों की। बाह्य चीजों से क्या प्रयोजन? बाह्य वैभव है फिर भी दुःखी बाह्य वैभव नहीं है कोई ज्ञानी है तो वह सुखी सुख शान्ति के लिये बाह्य वैभव के संचय की धुन तो न रखें, उससे कुछ सिद्धि नहीं होने की है, बल्कि महान् अनर्थ अन्त में यह होगा कि मरते समय जबकि सह चीजें छूट रही हैं तो यह बड़ा क्लेश करेगा, हाय मैंने रात-दिन जी तोड़कर इतना धन कमाया, इतना वैभव जोड़ा और यह सारा का सारा एक साथ छूटा जा रहा है। उसकी विह्वलता दूसरे क्या समझें? तो कुछ दृष्टि इस ज्ञान विकास की रहना चाहिए।

## श्लोक-226

अधो वेत्रासना कारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः।

मृगङ्गसदृशस्वाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मकः॥226॥

**लोक का आकार**—लोक का आकार कैसा है? इसका स्पष्टीकरण इस श्लोक में किया है। इस लोक को 3 भागों में बाँट लीजिए, किसी भी चीज के तीन भाग किए जायेंगे तो उनका क्या नाम है? अधोभाग, मध्य भाग और ऊर्ध्व भाग। इस लोक के तीन भाग हैं अधो भाग, मध्य भाग और ऊर्ध्व भाग। इसमें अधोलोक तो है वेत्रासन के आकार, मूढ़ा के आकार, अर्थात् नीचे जो चौड़ा है और ऊपर सकरा हो गया है। लोक रचना को शीघ्र जानने के लिए यह उपाय बड़ा अच्छा है कि 7 बालक एक के पीछे एक खड़े कर दिये जायें और वे सातों के सातों पैर पसार कर कमर पर हाथ रखकर खड़े हों तो सारी लोक रचना बिल्कुल ठीक समझ में आ सकती है। कहाँ क्या है, मानो ऐसा लोक रचना का दृश्य बनायें, 7 बालकों को खड़ा करके, यह तो हुआ पूरा लोक। अब बतलाओ हम आप किस जगह रहते हैं कि इस लोक के चारों तरफ भी घूम करके देखें तो वह स्थान नहीं दिख सकता। इस सारे लोक के बीच में एक त्रसनाली है। जैसे तीन लड़के पीछे के छोड़कर बीच के बालक में उसमें भी ठीक बीच में मान लो कि जितनी चौड़ी गर्दन है उतने ही चौड़े शरीर के बीच-बीच में चौकोर एक आकार बना लीजिए।

**त्रस नाली की रचना**—उतनी ही ऊँची वह त्रसनाली है, यह भी किसी ओर से दिखेगा नहीं, और उस त्रसनाली के मध्य भाग में असंख्याते द्वीप समुद्रों की रचना है। उन असंख्याते द्वीप समुद्रों के ठीक बीच में जम्बूद्वीप है, उसके एक ओर भरत क्षेत्र, उसमें 5 खण्ड। आर्य खण्ड के बीच में है अपना सबका देश, वहाँ हम आप कितनी सी जगह में रहते हैं, यों समझ लीजिए कि जितना उन सब लड़कों का विस्तार बन गया है, घेरा बन गया उस घेरा में एक सूई की नोक के बराबर भी भाग नहीं बैठता जिस देश में हम आप रहते हैं। तो उस रचना में जो अधोलोक है अर्थात् नाभि से नीचे का, कमर से नीचे का जितना हिस्सा है वह अधोलोक है, वह वेत्रासन के आकार का लगता है, और ऊपर जो नाभि से ऊपर बचा हुआ है वह मृदंग की तरह मालूम होता है। जैसे मृदंग दोनों तरफ से सकरा रहता और बीच में मोटा रहता है, कुछ-कुछ ढोल भी ऐसी होती है पर मृदंग में बीच में बहुत घेरा रहता है उसकी तरह मालूम होता है। और बीच में जो मध्य लोक है वह झल्लरी की तरह मालूम होती है, समतल है। ऐसे ये तीन प्रकार के लोक इस आकार में स्थित हैं इस समस्त लोक में जो एक त्रसनाली है उसमें ही त्रस जीव होते हैं और जितना बचा हुआ हिस्सा है आप उन 7 बालकों की रचनाओं से लोक को निरखकर सोचते जाइये, जितना भी त्रसनाली से बाहर का हिस्सा है उसमें केवल स्थावर जीव रहते हैं। स्थावर जीव त्रसनाली में भी हैं और त्रसनाली से बाहर भी हैं। त्रसनाली के सिवाय अन्य जगह त्रस नहीं है और उन त्रसों में भी जो विकलत्रय हैं, कीड़ा मकौड़ा हैं वे तो सब इस मध्य लोक में भी थोड़ी सी जगह में पाये जाते हैं, ऊपर देव लोक का निवास है, नीचे नारकी जीवों का निवास है।

**त्रसनाली से बाहर भी त्रस की सम्भावना**—स्थावर सब जगह हैं। त्रसनाली से बाहर कभी त्रस जीव अगर रहते हैं तो किस स्थान में रहते हैं? इसे भी ध्यान में लाना। कोई भी जीव मरकर यदि त्रसनाली से बाहर जन्म धारण कर जाता है तो मरने के बाद तो वह स्थावर कहलाने लगेगा, लेकिन मरण से पहिले जिसे कि मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं कि जीव मरते समय एक बार जन्मस्थानों में भी पहुँच सकता है, फिर लौटकर शरीर में आकर एकदम निकलता है। तो मारणांतिक समुद्घात हो किसी त्रस का और उसे पैदा होना हो त्रसनाली से दूर तो वह त्रसजीव बाहर ही आया ना फिर लौटकर फिर शरीर में आकर एक साथ मरकर जायेगा। इससे भी त्रसनाली से बाहर त्रसजीव रह सकते हैं। बाहर के स्थावर जीव का त्रसनाली में त्रसपर्याय में मानो जन्म होता है तो मरने के बाद वह त्रस कहलाने लगेगा, सो यों भी बाहर त्रस रहा। वहाँ कोई स्पष्ट दिशा में त्रस बाहर नहीं रहते हैं।

**समस्त लोकरचना के मान का फल**—ऐसा एक महान् लोक है जिस लोक में हम आप निवास करते हैं। सारी लोक रचना जान लेने से मोह में अन्तर आता है। किस का मोह करना? लोक तो ऐसा है। तो इन सब भावनाओं का प्रयोजन है—मोह रागद्वेष से दूर होना, और जिस प्रकार आत्मा को समता का सुख प्राप्त होता हो उस प्रकार की परिणति बने इसी के लिए बारह भावनाओं का चिन्तवन किया जाता है।

**श्लोक-227**

यत्रैव तन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थिताः।

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगताः॥227॥

सभी जीवों के स्वभाव में ऐक्य, पर-विभाव से विविधता—जहाँ पर ये सब प्राणी नाना गतियों में स्थित होते हुए कर्मों के जाल के वशीभूत होकर उत्पन्न होते हैं और मरते हैं वही तो यह लोक है। लोक में क्या हो रहा है? लोक में जीव नाना गतियों में जन्म लेते हैं, मरते हैं, सम्पन्न होते हैं, विपन्न होते हैं, यही सब जीवों के लिए हो रहा है। एक स्थिति समान स्थिति जो भी होगी वह स्वभाव विकास की होगी। स्वभाव से विपरीत जितने भी परिणमन हैं वे सब एक समान होते हैं, जैसे कोई सवाल दे तो उसका सही उत्तर जो होगा वह एक ही होगा और गलतियाँ जो होगी वह नाना तरह की होंगी। तो विकार जो होते हैं वे नाना प्रकार के, किन्तु जो स्वभाव का विकास है वह सबमें एक समान है। तो यहाँ लोक में सब विभिन्नताएँ देखी जा रही हैं। यहाँ वहाँ चलने फिरने से त्यागियों के लिए विहार कह लीजिए, गृहस्थों के लिए पर्यटन कह लीजिए। तो चलना फिरना अनेक घटनाएँ जो दृष्टि में आती हैं उन घटनाओं से इस जीव को शिक्षा मिलती है और कुछ यह अपनी ओर झुकने का भी भाव रखता है। अब देखिये बहुत बड़ा बोझ लदा है बग्गी में और भैंसा लादे चला जा रहा है और ऊपर से बेदर्द होकर डंडे भी मारते जा रहे हैं और और भी दसों प्रकार की घटनाएँ देखने में आती हैं, उसकी यह हालत देखकर क्यों दुःख होता है? इसलिए दुःख होता है कि वह भी जीव है, हम भी जीव हैं। जैसी वेदना हमें होती है वैसी ही वेदना इसके होती है, पर बेचारा भार लादे है, परतंत्र है, उसको देखकर दया आती है। उसका कारण है कि समानता की बात मन में आयी। ऐसा हो तो मैं भी हूँ, यह भी जीव है, यों अनेक प्रकार के सम्बन्ध चित्त में आते हैं जिनके कहने में तो देर लगती है पर विचारों में देर नहीं लगती। तो इन सब सम्बंधों के कारण एक राग हो जाता है अपनी ओर के झुकाव का। ऐसी घटना देखने पर यह लगता कि किसलिए वैभव कमाना, किसलिए धन जोड़ना, किसलिए दुनिया में बहुत-बहुत अपना नाम चाहना, सारी बातें एक हो जाती हैं, पर जैसे कभी खुद पर विपत्ति आती है रोग हो गया कठिन या अन्य कोई विपदा आ गयी।

**लोक में सर्वत्र अशरण्यता**—मरणासन्न अवस्था हो गई तो उस समय फिर उसे वैभव के जोड़ने की नहीं पड़ती, कमाई की नहीं मन में आती है, सब असार जँचने लगता है। फिर उस समय किसी का मोह नहीं बसता है ऐसी प्राकृतिक बात है। कुछ भी विवेक हो जिसके उसकी बात है। तो अनेक तरह के विकार,

अनेक घटनाएँ जहाँ जीव करते रहते हैं, वही तो यह लोक है। यह लोक साररहित है। इस लोक में कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसका शरण मान लिया जाय, विश्वास किया जाय, जहाँ शान्ति और विश्राम मिल सके। लोक में ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिस जीव के निकट हम रहें जिसको हम आत्मसमर्पण कर दें तो अपना कुछ दुःख दूर हो सके, ऐसा भी कोई जीव नहीं है। यह असारता की अशरणता की बात अनादिकाल से चली आ रही है। ऐसे इस लोक में मौज मानकर रहना, बेहोश रहना, धर्म की ओर दृष्टिपात न रहना, विषयों के भोगों में रम जाना, यह तो कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है।

पवनवलयमध्ये संभृतोऽत्यन्तगाढं,

### श्लोक-228

स्थितिजनन बिनाशालिङ्गितैर्वस्तुजातैः

स्वयमिह, परिपूर्णोऽनादिसिद्धः पुराणः।

कृतिविलयविहीनः स्मर्यतामेष लोकः॥228॥

प्रतिसमय परिणमते हुए लोक में एकमात्र साथी धर्म—इस लोक में इस प्रकार का स्मरण कीजिए कि यह लोक वातवलयों के भीतर स्थित है। यह लोक अनेक वस्तुओं के समूह से व्याप्त है। प्रत्येक पदार्थ जहाँ प्रत्येक समय बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। यह लोक अपने आप परिपूर्ण है, अधूरा नहीं है। ऐसा नहीं है कि किसी ने बनाया हो और कुछ अधूरा रह गया हो, सो नहीं है। यह समस्त सतों का समूह है इसलिए यह भी सत् रूप है। जो सत् होता है वह परिपूर्ण ही होती है। यह लोक अनादि से सिद्ध है। इस लोक को किसी ने बनाया नहीं, पुराण है, न इसकी उत्पत्ति होती है, न इसका विलय होता है, यह तो है चला आया है। जैसे ऋतुयें नई आती हैं पुरानी व्यतीत होती है। फिर भी जो ऋतुयें आती हैं वे नई-नई बन-बनकर आती हैं, इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ संसार में विनष्ट होता है, उत्पन्न होता है, प्रतिसमय नया-नया परिणमन इस लोक में होता है, कभी-कभी विचित्र परिणमन सा लगता है। कभी वैसी ही बात वर्षा से चली आयी है, इसमें विचित्र परिवर्तन नहीं मालूम होता, किन्तु है प्रतिसमय परिणमता हुआ प्रत्येक पदार्थ, उन पदार्थों से भरा हुआ यह लोक है। यह लोक विश्वास के काबिल नहीं है। किस पदार्थ का शरण गहते हो कि शरण मिल जाय। ये सभी मोही जीव है, अतएव मोही जीव जिन-जिन बातों में लग रहे हैं दूसरे मोहियों को उन बातों में सार विदित होता है, पर वस्तुतः देखो तो सार कुछ नहीं है। सभी लोग वैभव की बढवारी में लग रहे हैं, लाख हो तो करोड़ों की चाह, करोड़ हों तो अरब की चाह। जगत में अगर इतना वैभव नहीं

इकट्ठा कर सकते तो काहे का जीवन, ऐसा मानते हैं, किन्तु सार कहीं नहीं है। मरण के बाद तो यहाँ का कुछ भी लगार साथ नहीं जाता है, लेकिन आत्मा का धर्म आत्मा का संस्कार ज्ञान की दृष्टि जैसे बनाते बने, अगर इसे पुष्ट कर लीजिए तो यह साथ जायेगा। यह संस्कार आगे भी काम देगा, पर यहाँ का वैभव एक अणुमात्र भी कान न देगा। लेकिन सब मोह है। सबको यह सुहाता है तो दूसरा कुछ विवेक भी करें, थोड़ा ज्ञान भी हो तो भी वह फिसल जाता है और ज्ञान की दृष्टि में अपने को नहीं लगा पाता है।

**ज्ञानी की चाल से अज्ञानी सर्वथा विपरीत—**ज्ञानी और अज्ञानी की चाल उल्टी ही हुआ करती है। लोग क्या करते हैं वही हमें करना चाहिए ऐसा विचार विवेकपूर्ण नहीं है। किन्तु यथार्थ कर्तव्य क्या है? वह हमें करना चाहिए यह विवेकपूर्ण बात है। सबके समुदाय का नाम लोक है। हम आपको जितना समुदाय मिला है उतने को हम अपना लोक कह लें, हमारी दुनिया यह है। कहते भी हैं लोग। जितना कुटुम्ब हुआ, वैभव हुआ उस सबके संचय को कहते हैं कि हमारी दुनिया इतनी है, जिसे भी अपनी दुनिया माना, स्वरूपदृष्टि लगाकर देखो आत्मा का उसमें कुछ नहीं बसा हुआ है, रंचमात्र भी नहीं है। रही बात यह कि जब मनुष्य जीवन मिला है तो खाये बिना तो काम नहीं चलता, यह भी ठीक है, पर यह मनुष्य खाने के लिए ही तो नहीं कमाता, खाने के लिए ही तो कुछ नहीं करता, यह तो अपने शौक बढ़ाता है और नाना प्रकार के आरामों में रहें तो अपनी शान है, इस प्रकार का भाव बनाया है।

**सात्विकता निराकुल होने में सहायक—**पुण्य के उदय से आ जाय तो ठीक है, उसका बँटवारा कर लें। प्रथम तो कितना भी वैभव आये, अपना जीवन ऐसा सात्विक रहे जैसा कि अन्य लोगों का अपने से छोटे लोगों का करीब-करीब रहता है तो उसमें अनेक लाभ हैं, एक तो आकुलता नहीं होती, अधिक कमाने की चिन्ता नहीं होती। जब हम आवश्यकताएँ ही नहीं बढ़ा रहे हैं तो कमाने की चिन्ता क्या? दूसरे कदाचित् उदय ऐसा आया है कि स्थिति कम हो जाए तो उस स्थिति में इसे वेदना न होगी, अभ्यास बना हुआ है। तपश्चरण में और बात क्या सिखायी जाती है? लोग उपवास करते, पर्व के दिनों में बड़े सादे रहनसहन से रहते, यहाँ तक कि कुछ लोग बाल भी नहीं बनवाते, हजामत भी नहीं करवाते न चटक मटक के कपड़े पहिनते, न घर में अधिक बसते, बहुत सा समय मंदिर में गुजारते तो वह एक सात्विक वृत्ति का अभ्यास है तो जितना अपने को सात्विक प्रकृति से बना लिया जाय उतनी अपने को निराकुलता रहेगी।

**व्यवसायों में उत्तम व्यवसाय—**हिम्मत ऐसी होनी चाहिए। जब कभी विशेष सुविधायें हैं चलो उन सुविधाओं को भोग लें, पर कभी न रहें तो उसमें भी प्रसन्न रह सकें। जैसे कुछ लोग तो ऐसे होते हैं कि जिन्हें हाथ पैर दबाये बिना चैन नहीं पड़ती और कुछ लोग तो ऐसे होते हैं कि हाथ पैर दब गए तो ठीक न दबे तो कुछ हरज नहीं, तो जिसे चैन नहीं पड़ती वह तो न दबने पर बेचैन हो जायेगा और एक ऐसा है कि जिसे कुछ भी बेचैनी नहीं होती। इसी तरह कोई ऐसे ही पुण्यवान हैं कि सुविधाओं को भोगकर रहें पर कभी

न रहें ये साधन तो उस स्थिति में परेशान हो जाते हैं और एक ऐसे हैं कि हल्की स्थिति हो जाने पर दुःखी न होगा, तो अंदाज कर लो कि इनमें भला किसे कहोगे? तो इस लोक में किसी भी समागम में विश्वास न करें, अपने आत्मा की पवित्रता पर विश्वास करें। सब वैभव जो कुछ मिलते हैं वे आत्मा की इस पवित्रता के लगाव से मिलते हैं। तो सबसे बड़ी भारी व्यवसाय तो अपने आपको पवित्र बनाये रहना है और पवित्र बनाये रहने के लिए आचार्यों के उपदेश पढ़ना, सुनना, विचारना, किसी भी प्रकार से दो वचन ज्ञान के पढ़ें तो वह तो लाभ की ही बात है। जब ज्ञान की दृष्टि बनती है तो सब कुछ उचित परिवर्तन हो जाता है और जब अज्ञान की दृष्टि बनती है तो क्लेश की परम्परा बढ़ती है तो कोशिश यह करना चाहिए कि दो एक बार उपदेश पढ़कर सुनकर दो एक बार धर्म की चर्चा करके, दो एक बार अच्छे साधु संतों की संगति में बैठकर किसी भी प्रकार अधिक से अधिक बार अपने ज्ञानस्वरूप की खबर हो सके, दृष्टि जग सके उस ओर झुकाव बन सके बस वह तो है उत्तम व्यवसाय।

**आत्मा की निराकुलता का मार्गपना**—लोग भले ही कहेंगे जो मोहीजन हैं कि इसके दिमाग में कुछ फितूर आ गया है क्या? जो अच्छे लोग होते हैं पेन्ट कोट वाले होते हैं वे तो ऐसा नहीं किया करते। भले ही मोहीजन इस प्रकार सोच लें पर सोचने दो, वे अपने रक्षक नहीं, वे अपने अधिकारी नहीं, उनके रखाये अपन रहते नहीं, अपनी दृष्टि से अपना सब परिणमन बनाना चाहिए। तो इस लोकभावना में यह बात बतायी गयी कि यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों से भरा हुआ है।

एक ही जगह में सभी द्रव्य मौजूद हैं। इस लोक के प्रत्येक प्रदेश पर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी हैं। लोक में सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव को लिए हुए हैं और दूसरे के स्वरूप से भिन्न रूप से ठहर रहे हैं, क्षेत्र की अपेक्षा यद्यपि वह जगह जहाँ एक पदार्थ है वही सभी पदार्थ हैं, अनेक हैं लेकिन सब अपने-अपने स्वरूप को लिए रहते हैं। एक दूसरे के भिन्न रूप में ठहरे हैं, उन सब द्रव्यों में एक मैं आत्मद्रव्य हूँ। यह मैं अपने स्वरूप से हूँ और जितने भी पर हैं, चाहे वे पर जीव हों, पुद्गल आदिक हैं उन सबसे मैं जुदा हूँ। तब अन्य पदार्थों से ममत्व छोड़कर अपने आत्मा की भावना करना ही सच्चा व्यवसाय है। हम व्यवहार में रहते हैं तो व्यवहार में जो-जो कुछ भी प्रवृत्ति आती हैं, मिलती हैं उन सबका यही ज्ञान होना चाहिए तो हम एक निर्भय निराकुल और समाधान रूप बने रहेंगे। यों लोक का स्वरूप विचारने से परतत्त्वों से हटकर अपने आपकी ओर लगने की बात कही गई है।

## श्लोक-229

दुरन्तदुरितारतिपीडिस्य प्रतिक्षणम्।

कृच्छ्रान्नरकपातालतलाज्जीवस्य निर्गमः॥229॥

भावकलंक से पीड़ित जीव का दुर्गति से छूटने की दुर्लभता—इन बारह भावनाओं के प्रकरण में अब यह बोधि दुर्लभ भावना अन्तिम भावना कही जा रही है। इसमें बोधि की दुर्लभता का वर्णन किया जायेगा। बोधि का अर्थ है रत्नत्रय। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का नाम है बोधि। यह बोधि अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसी बोधि की दुर्लभता की भावना कर रहे हैं। यह जीव अनादि काल से पापरूप बैरियों से निरन्तर पीड़ित होता चला आया है। तो इस जीव का आदि स्थान तो निगोद है। जो आज सिद्ध हैं वे भी कभी निगोद में थे, हम आप भी जो मनुष्य हैं वे भी निगोद में थे, आदि स्थान निगोद है। तो इस जीव का निगोद से निकलना ही प्रथम कठिन है। यद्यपि निगोद जीव लोक में है सब जगह। जहाँ सिद्ध भगवान विराजे हैं वहाँ भी निगोद जीव हैं और नरक के नीचे भी निगोद जीव हैं, किन्तु निगोद का स्थान करके नीचे बताया गया है। उसका मुख्य प्रयोजन यह है कि और और जगह तो विकलत्रय भी हैं और प्रत्येक स्थावर भी हैं बहुतायत से, लेकिन नरक के पाताल के नीचे वहाँ केवल निगोद जीव मुख्यता से पाये जाते हैं इसलिए उसे निगोद स्थान कहा गया है। तो उस स्थान की बात नहीं कह रहे हैं किन्तु नित्य निगोद रूप पर्याय की बात कह रहे हैं। इस जीव का उस निगोद से निकलना ही कठिन है। निगोद निवास का अर्थ है, अनादि काल से जो निगोद रहे चले आये हैं, बीच में कभी उनकी निगोद पर्याय नहीं छूटी ऐसे जीव अब तक भी हैं।

उत्तरोत्तर त्रसपर्याय की प्राप्ति की दुर्लभता—जरा अपने आपकी जो आज उत्कृष्टता है उसकी तुलना तो करो, कितने जीवों से भले हैं। अनन्तानन्त जीवों से अच्छे हैं। अनन्तानन्त तो निगोद ही जीव हैं, उनकी तो कितनी विकट दुर्दशा है, फिर कीड़ा मकौड़ों को देखिये चीटियाँ किसी जगह दिख जाती हैं जिन्हें गिने तो लाखों मालूम पड़ें ऐसे उन कीड़ा मकौड़ों से तो हमारी आपकी स्थिति अच्छी है ना, प्रत्येक स्थावरों से तो हम आपकी स्थिति अच्छी है ना, पशुओं से तो हम भले हैं ना, मगर सन्तोष नहीं कर पाते। बैल, भैंसा जो गाड़ी में बोझ ढो रहे हैं, पिट रहे है उनसे तो हम आप बहुत अच्छे हैं, पक्षियों से भी अच्छे हैं, और अनेक मनुष्यों से अच्छे हैं। कोढ़ी हैं, रोगी हैं, निर्धन हैं, अनेक प्रकार के जीव हैं जो महा दुःखी हैं, उन दुःखियों से तो हम आप अच्छे हैं ना।

तृष्णा के कारण प्राप्त सुख भी दुःख—इतनी तो अच्छी स्थिति है मगर जो दृष्टि तृष्णा की ओर लगी है तो जो आज अच्छी स्थिति मिली है उसका भी सुख नसीब नहीं होता। जैसे एक लाख का धन है उसमें एक हजार घट गए तो 99 हजार तो अभी भी हैं, मगर जो एक हजार घट गए उसकी ओर दृष्टि लगने से उसका विषाद होने से 99 हजार का भी आराम नहीं मिल रहा है, और एक मनुष्य जो खोंचा फेरकर गुजारा करता था 10, 5 रुपये की पूंजी से ही और उसके पास किसी तरह एक हजार रुपये हो गए तो वह तो अपने को

बड़ा सुखी अनुभव करता है। तो हम आपकी स्थिति अनन्तानन्त जीवों से आज भली है, मगर कुटेव ऐसी बनी चली आयी है कि अपना इस स्थिति का भी उपयोग नहीं कर पाते।

विषय संस्कारों के छूटने पर ही धर्म की सुलभता—चलो जो है सो ही ठीक है, जो मिला है वही जरूरत माफिक काफी है, बल्कि जरूरत से भी ज्यादा है। अब कर्तव्य तो यह है कि अपने को ज्ञान में ढालें, शुद्ध आचरण में लगायें और धर्म से अपने को सुसज्जित बनायें जो कि भविष्य में भी हमें शरण होगा कर्तव्य तो यह है, पर यह जीव विषयवासना के संस्कार से कषायों के संस्कार से ऐसा नहीं कर पाता है। तो इस बोधि दुर्लभ भावना से मनुष्यभव की और रत्नत्रय की दुर्लभता बताकर यह ध्यान दिला रहे हैं कि जब इतनी उत्कृष्ट स्थिति पायी है तो अब विषय संस्कारों से छुटकारा पायें और धर्म में ही विशेष लगे तो इससे भी अधिक अच्छा फल प्राप्त होगा, यों इस बोधि दुर्लभ भावना में इस बोधि का रत्नत्रय का वर्णन कर रहे हैं।

### श्लोक-230

तस्माद्यदि विनिष्क्रान्तः स्थावरेषु प्रजायते।

त्रसत्यवमथवाप्नोति प्राणी केनापि कर्मणा॥230॥

निगोद की अपेक्षा स्थावरपना उत्तम—बोधिदुर्लभ भावना में बोधि की प्राप्ति कितनी कठिन है, यह बताया जा रहा है। यह जीव अनादि काल से तो निगोद में रहा आया। निगोद जीव वनस्पति के भेदों में से हैं। वनस्पति के दो भेद होते हैं, एक साधारण वनस्पति, एक प्रत्येक वनस्पति। साधारण वनस्पति का नाम निगोद है। साधारण वनस्पति में भी दो भेद हैं—एक बादर साधारण वनस्पति, एक सूक्ष्म साधारण वनस्पति, जिन्हें बादर निगोद और सूक्ष्मनिगोद कहते हैं। इन निगोद में एक श्वास में 18 बार जन्म-मरण का क्लेश सहना पड़ता है। ऐसा सबसे अधिक दुर्गति का स्थान यह निगोद है। इस निगोद से यह जीव निकला तो अन्य स्थावरों में उत्पन्न हुआ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति। यह निगोद की अपेक्षा कुछ अच्छी स्थिति है, किन्तु हैं ये सब स्थावर। इन स्थावरों में भी यह जीव असंख्यात काल तक भ्रमण करता रहता है।

स्थावरत्व से विकलत्रयपने की उत्कृष्टता—किसी भी कर्म से कुछ पुण्य कर्म का उदय हो तो स्थावर काय से निकलकर त्रस गति को प्राप्त करता है। त्रसों में 4 प्रकार हैं—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंच इन्द्रिय। इनमें सबसे हीन दर्जे के हैं दो इन्द्रिय, जिनके स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों का विकास हुआ हो वे दो इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। स्थावरों में केवल स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान था और स्पर्शन

इन्द्रिय से उत्पन्न सुख का लाभ था। अब दो इन्द्रिय होने पर स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान हुआ और रसना इन्द्रियजन्य भी ज्ञान हुआ। अब इसको रस का भी ज्ञान होने लगा, तीन इन्द्रिय जीव हुआ तो स्पर्शन, रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियों से ज्ञान उत्पन्न होने लगा। अब यह जीव सुगंध दुर्गन्ध का भी ज्ञान करने लगा। तीन इन्द्रिय के बाद चतुरिन्द्रिय जीव हुआ। तो ये स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रिय के निमित्त से ज्ञान और सुख होने लगा। यहाँ तक यह जीव विकलत्रय कहलाता है। यह जीव निगोद । यह जीव निगोद से निकला अन्य स्थावरों में हुआ, वहाँ से निकला दो इन्द्रिय हुआ, फिर तीन इन्द्रिय फिर चार इन्द्रिय हुआ, ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ दशायें हैं अनन्तानन्त जीव तो अब भी निगोद में पड़े हुए हैं। कम से कम इतना तो निर्णय हो ही गया है कि हम निगोद राशि से निकल आये, व्यवहार राशि में आ गए और उसमें भी आत विकलत्रयों से भी निकलकर पञ्चेन्द्रिय हो गए, लेकिन एक नियमित दृष्टि नहीं कर सकते, कल्पनावश दुःख हुआ करते हैं, हाथ में कुछ भी अच्छी स्थिति नहीं है, न अधिक धन है न अधिक परिवार है, न आज्ञाकारी गोष्ठी है, न जाने कितनी कल्पना करके दुःखी होते हैं। जरा इस ओर दृष्टि तो दो कि अनन्तानन्त जीवों से हम कितनी अच्छी स्थिति में है, बस संसार का यही चक्र है, अच्छी स्थिति में आने पर भी अपनी अच्छी स्थिति से लाभ नहीं उठाना चाहते। उसही विषयवासना के संस्कारों को दृढ़ कर करके ऐसे अमूल्य अवसर को भी खो देते हैं। यह जीव निगोदराशि से निकलकर यहाँ चतुरिन्द्रिय तक में उत्पन्न हुआ, ऐसी दुर्लभ दशाओं का उत्तरोत्तर वर्णन किया है।

### श्लोक-231

यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पञ्चाक्षेऽवयवान्वितः।

तिर्यक्ष्वपि भवत्यङ्गी तन्न स्वल्पाशुभक्षपात्॥231॥

असैनी पंचेन्द्रियपने की प्राप्ति की दुर्लभता—अभी तक यह जीव बराबर तिर्यञ्चगति में है। निगोद भी तिर्यञ्चगति का जीव कहलाता है और स्थावर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये भी तिर्यञ्चगति के जीव हैं। दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय चार इन्द्रिय हुआ, ये भी तिर्यञ्चगति के जीव हैं। अब इन ही तिर्यञ्चगति में कुछ आगे और बढ़ा तो पञ्चेन्द्रिय हुआ। पञ्चेन्द्रिय में यदि यह जीव अपर्याप्त रहा तो अपना क्या कल्याण कर सकता है? तिर्यञ्च भी हुआ पञ्चेन्द्रिय किन्तु पर्याप्त होना दुर्लभ है। पर्याप्त उसे कहते हैं कि आहार, शरीर, इन्द्रिय, स्वासोच्छ्वास, भाषा ये पर्याप्तियाँ जिनकी पूर्ण हो गई हैं, अभी संज्ञी नहीं हुआ इसलिए मनःपर्याप्ति की बात छोड़ दो। पर्याप्त होना ही दुर्लभ है और पर्याप्त भी हो गया और मनरहित रहे तो करेगा क्या?

**अपर्याप्तसैनी की असामर्थ्य**—मन से ही तो शिक्षा ग्रहण की जाती है। मन से ही सब निर्णय हुआ करता है। मनरहित हो तो यह करेगा क्या? इन सब बातों को सुनकर अपने पर यह घटित करते जाइये कि हमें अनन्तानन्त जीवों के मुकाबले कितनी बढ़िया स्थिति पायी है, लेकिन मोही जीव आगे की और तृष्णाओं की बात मन में रखते हैं और जो इस समय पाया है उसे भी सुख से नहीं भोग सकते, और न इस अच्छे वातावरण का सदुपयोग कर सकते हैं। धर्म मार्ग में नहीं लग सकते। यह जीव पञ्चेन्द्रिय भी हुआ और असैनी रहा तो कुछ विशेष बात नहीं बनती। हाँ, पञ्चेन्द्रियों से उत्पन्न अज्ञान और सुख के भोगने की सामर्थ्य आये लेकिन हेय बुद्धि का हित अहित का यह कुछ भी विवेक नहीं कर सकता। तो संज्ञी होना दुर्लभ है, मनसहित हो तो वहाँ भी यह अपर्याप्त की विडम्बना लगी है, सैनी जीव भी यदि अपर्याप्त हो तो क्या करेगा? जैसे मनुष्य भी असंख्याते अपर्याप्त होते हैं वे कैसे होते हैं? वे दिखते नहीं हैं किन्तु स्त्रीजनों के काँख आदि के स्थानों से ही से उत्पन्न होते रहते हैं बिना वजह और उनके न दर्शन हैं, न पकड़ में भी आ सकते हैं और संज्ञी हैं वे किन्तु लब्धपर्याप्त हैं, उनमें मनुष्यों की वैसे ही जन्म-मरण की दशा होती रहती है जैसे निगोद जीव की होती है। 'नाम बड़े और दर्शन खोटे।' नाम तो हो गया कि मनुष्य बन गया, सैनी बन गया पर क्या बन गया? यदि ऐसे तिर्यञ्चों में भी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी हो गए और सैनी भी हो गए किन्तु अपर्याप्त हो गए तो कुछ नहीं कर सकते।

**पर्याप्त सैनीपने की दुर्लभता**—तो सैनी बना और पर्याप्त बना, यह उत्तरोत्तर दुर्लभ है। यह जीव निगोद से, स्थावरों से, दो इन्द्रिय से, तीन इन्द्रिय से, चार इन्द्रिय से और अपर्याप्त तिर्यच पंचेन्द्रिय से अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यचों से निकलकर यह संज्ञी भी हुआ, पर्याप्त भी हुआ तो इतना होने पर भी उसके अवयव सही होना, पूर्व अवयव संयुक्त होना दुर्लभ है। ऐसे ही तिर्यच में संज्ञी तिर्यच पर्याप्त और सामर्थ्य वाला होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। तिर्यचों में भी इतना ज्ञानबल जग जाता है कि वे सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं और देशसंयम भी धारण कर लेते हैं। ये हाथी, सिंह, भैंसा, बैल, सूकर, बन्दर, नेवला, सांप आदि सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यच भी उस चैतन्यस्वरूप का अनुभव कर लेते हैं। अब बतलाओ आत्मा की बात, ज्ञान की बात तो ज्ञान के साथ है, वहाँ मन की आवश्यकता थी। इन फँसाव की स्थिति में मन मिल गया।

**पर्याप्त संज्ञी के भेदविज्ञान की योग्यता**—तो यह सामर्थ्य जग गयी कि वह भेद विज्ञान की बात अनुभव कर ले। इस देह से भी न्यारा चैतन्यस्वरूप मैं हूँ ऐसा अनुभव जैसा कि विवेकी पुरुष बड़ा प्रयत्न करके विद्या सीख कर किया करते हैं, ये तिर्यच बिना पढ़े लिखे हैं, अक्षर पढ़ना लिखना तो नहीं जानते लेकिन ऐसा उत्कृष्ट मन हो जाता है किन्हीं-किन्हीं पशुओं का पक्षियों का कि वे इस देहमात्र से भिन्न इस चैतन्यस्वभाव का अनुभव कर लेते हैं। यह मैं हूँ, ऐसा अपने आपके स्वरूप का प्रत्यय कर लेते हैं, और संज्ञी होना बहुत दुर्लभ बात है। अब इसके बाद मनुष्य हुआ तो वहाँ क्या-क्या चीज उत्तरोत्तर दुर्लभ है इस बात को बतावेंगे। इस बोधिदुर्लभ भावना में मनुष्यों को समझाना है ना, तो तिर्यच के बाद मनुष्यों की बात कह रहे हैं। यद्यपि

नरकगति और देवगति के जीव भी होना दुर्लभ है। नारकी भी तो आखिर मन सहित है। तीर्थकर जितने भी बनते हैं, वे या तो नरकगति से मरकर जन्म लेकर बनते हैं या देवगति से मरकर जन्म लेकर बनते हैं। मनुष्यगति से आकर मनुष्य बनकर तीर्थकर बन इनकी संख्या बहुत कम है, तो नरकगति और देवगति में भी कितना उत्कृष्ट मन है, वह भी दुर्लभ है। यह बात इस प्रकरण में समझकर आगे मनुष्य की बात सुनिये।

### श्लोक-232

नरत्वं यद्गुणोपेतं देशजात्यादिलक्षितम्।

प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यत्र तन्मन्ये कर्मलाघवान्॥232॥

**देशजात्यादि गुणसम्पन्न नरत्व की प्राप्ति की दुर्लभता**—यह जीव नाना योनियों से निकलकर मनुष्य भी बना तो मनुष्य बनना कठिन है। आप देखते हैं कितने ही बालक कितने ही मनुष्य ऐसे नजर आते हैं जिनका दिमाग काम न करें, जो बोल नहीं सकते, गूंगे हैं, बेकार हैं, जिनके बारे में माता पिता को भी चिन्ता हो जाती है कि यह खायेगा कैसे, इसमें तो कुछ भी योग्यता नहीं। ऐसे मनुष्य हो गए तो ये अब क्या करेंगे, वहाँ हित की साधना कैसे बनेगी? तो मनुष्य भी बन गए और अत्यन्त मूर्ख हुए, दिमाग शक्ति भी नहीं रही ऐसा मनुष्य हुआ तो भी इस जीव को क्या लाभ मिला? मनुष्य बने और उसमें भी गुणी बने तो यह बहुत दुर्लभ बात है। अपने बारे में सोच लो हम आप सब गुणसम्पन्न है, बात समझते हैं, हृदय की बात अच्छी तरह बता सकते हैं, वस्तु के स्वरूप की चर्चा भी कर सकते हैं, यह सही है, यह गलत है, यह भी निर्णय कर सकते हैं। और क्या चाहिए? रही संसार की सुख की बात। प्रथम तो संसार में कहीं सुख है नहीं, जितने भी मनुष्य हैं चाहे किसी भी स्थिति में आ गए हों, यदि ज्ञान नहीं है, आत्मा स्वरूप की सुध नहीं है तो कुछ न कुछ अटपट कल्पनाएँ करके दुःखी हो जायेंगे। एक भी मनुष्य ऐसा बताओ जो आत्मस्वरूप के अनुभव से शून्य हो, और फिर सुखी नजर आता हो। बड़े से बड़े लोक में माने जाते हैं राज्याधिकारी या धनिक लोग या किसी कारण से यशवान हुए हों, किन्हीं को भी देख लो कोई सुखी और सन्तोषी नजर न आयगा।

**सांसारिक सुखों की उपेक्षा में ही सुख**—तो संसार के सुखों से तो विरक्त रहना और इन सुखों की उपेक्षा करना इसमें ही हित है। अब शान्ति जैसे मिले वैसा उद्यम करने आप चलें तो वह उद्यम अन्तरङ्ग का है, ज्ञान से सम्बंधित है। कल्पना करो कि बड़ी दयनीय स्थिति है, किसी की किन्तु ज्ञान सजग है यह तो अकिञ्चन है, इसका कुछ भी तो नहीं है, देह तक भी न्यारा है, जब अपने को अकिञ्चन मान लें, गुजारा तो सबका होता ही है, कीड़ा मकौड़ा तक का भी गुजारा हो जाता है, येन केन प्रकारेण इस मनुष्य का भी

गुजारा चलता है, अब तो यह अपने ज्ञान को सजग रखे, अपनी सुध लेता रहे, सबकी उपेक्षा करे तो इसे दुःख कहा रहा? जो लोग जितना आन्तरिक परिचित समागम बनाते हैं, लोगों में स्नेह बढ़ाते हैं जो अपना यश रखना चाहते हैं अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं तो ऐसे जन कभी निराकुल हो ही नहीं सकते। निराकुल होने का पात्र वह है जिसमें इतनी हिम्मत है कि सारा जहान यदि मेरे प्रतिकूल रहे, अथवा मुझे कुछ जाने ही नहीं इतने पर भी मेरा कुछ बिगाड़ होता नहीं है। मेरा बिगाड़ मेरा ज्ञान बिगड़े तो होता है, दूसरों की चेष्टा से मेरा कुछ बिगाड़ नहीं होता है। किसी दूसरे की चेष्टा से मेरा कुछ सुधार भी नहीं है।

**उत्तम कूल देशादि प्राप्ति की अति दुर्लभता**—सब जिम्मेदारी अपनी आपकी है। अपने आपको संभाल लेवे अथवा अपने आपको बिगाड़ लेवे। तो मनुष्य हो और गुणसम्पन्न रहे यह बहुत कठिन बात है। मनुष्य भी हो गया और कुछ सोचने समझने का गुण भी आ गया इतने पर भी यदि उत्तम देश में न उत्पन्न हुए तो भी बहुत सी कमी रह गयी। जैसे कोई देश ऐसे हैं समुद्री किनारे पहाड़, गुफाओं के कि जहाँ धर्म का कुछ वातावरण नहीं है। आध्यात्मिक कुछ बात सुन सके, रख सके, कुछ चर्चा में आये इतना भी कहीं वातावरण नहीं है, जहाँ केवल मद्य मांस का ही सेवन होता है, उससे जीवन चलता है ऐसे जघन्य देश में उत्पन्न हो गया, आखिर क्षयोपशम अच्छा मिला है पर उत्तम देश न मिले तो अशुद्ध वातावरण में रहकर मनुष्य अपना जीवन यों ही खो देगा। तो उत्तम देश मिलना यह भी दुर्लभ है, उत्तम देश भी मिल गया और नीच जाति में उत्पन्न हो गए जहाँ सदाचार की परम्परा ही नहीं, ऐसे जघन्य कुल में उत्पन्न हो गए जहाँ अभक्ष्य त्याग की परम्परा ही नहीं तो वहाँ भी अपना क्या उद्धार कर सकेंगे? तो मनुष्य बनकर गुणी बनना, उत्तम देश में उत्पन्न होना, उत्तम जाति कुल में उत्पन्न होना, यह उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

**पर की ममता उत्कर्ष में बाधक**—जब इस प्राणी का कर्म लघु होता है, शुभ कर्म का उदय होता है, पाप कर्म का अभाव होता है तो ये बातें प्राप्त होती हैं। इन बातों को सुनकर हम यदि बाहर ही बाहर दृष्टि रखें, यह लोक है, ऐसा है आदि तो बाहरी दृष्टि रखने से अपने आपको कुछ प्रेरणा न मिलेगी। अपने आपमें घटित करके निरखना है। हम भी कभी निगोद में थे और ऐसे-ऐसे निकले और निकलकर आज कितनी अच्छी स्थिति में आये। अब तक जो दुर्लभ बातें कही है उनको पार करके यह स्थिति मिली है कि हम मनुष्य हैं, गुण सम्पन्न हैं, तो कुछ दिमाग भी सही है, उत्तम देश में उत्पन्न हुए, उत्तम जाति में उत्तम कुल में उत्पन्न हुए। इतनी दुर्लभ स्थिति हम आपने प्राप्त कर ली, अब क्या करना है सो बताओ? केवल एक मोही जीवों की तरह मोही जीवों को बताने के लिए मोही जीवों में ही रहकर एक मोह भरी बात ही करते रहें और उसको ही अपने आपमें घटाते रहें तो इस जीवन से कोई उद्धार नहीं है।

**संज्ञा की अपेक्षा नर पशु से भी अधिक**—इसी को ही पशुजीवन कहते हैं। ये सब काम तो पशु भी करते आये। पशु भी आहार लेते हैं, मनुष्य भी आहार लेते हैं। बल्कि पशु का पेट भर जाय तो बढ़िया घास

रखी हो तो उस ओर निगाह भी नहीं करते, किन्तु मनुष्य का पेट भरा हो, गले तले भी न उतरे तो भी कम से कम स्वाद मिल जाय इसलिए कुछ न कुछ खा लेते हैं। तो आहार में भी यह मनुष्य धैर्य नहीं रख रहा है। बल्कि पशुओं का धैर्य है? पशु भी नींद लेते हैं। मनुष्य भी नींद लेते हैं पता नहीं पशुओं को भी मनुष्य जैसा स्वप्न आता है या नहीं नींद में, पर यह तो स्पष्ट है कि पशुओं की नींद बहुत जल्दी खुल जाती है, और सोते हुए पशुओं को आपने देखा भी कम होगा। जरा सी आहट पाकर वे जग जाते हैं। श्वान निद्रा तो बहुत प्रसिद्ध है, किन्तु मनुष्य की नींद देख लो, इसके जगने के लिए बहुत तेज आवाज देने वाली अलार्म घड़ी रखनी पड़ती है। इतने पर भी नखरा रखते हैं और कहते हैं कि 10 बज गए और पता नहीं पडा और कितने ही लोग तो ऐसा जबरदस्त सोने वाले होते हैं कि उन्हें जगाने के लिए बहुत-बहुत झकोरना पड़ता है। निद्रा में भी मनुष्य पशुओं से गये बीते हैं। डर की बात देखो तो पशु तभी डरेंगे जब उनके ऊपर कोई डंडा लेकर आये और मनुष्य कड़े कोमल गद्दा कुर्सियों पर बैठा है, पास में रेडियो पंखा भी लगे हैं मगर भय बड़ा तेज बना हुआ है। न जाने देश की क्या हालत होगी, न जाने कैसे-कैसे कानून बनेंगे, बड़ा विकट भय बना रहता है। तो भय भी पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों में ज्यादा है। काम सेवन की बात देखो, प्रायः सभी लोग कहते हैं कि मनुष्य बारहों महीना काम सेवन में रहते हैं जबकि पशुओं के ऋतुवों पर होता है और वह भी बहुत कम। तो मनुष्य इस काम की बात में भी पशुओं से अधिक बढ़ा चढ़ा है।

**मनुष्य को पशु कोटि से उद्धार करने में समर्थ**—ऐसी कौनसी बात मनुष्यों की पशुओं से श्रेष्ठ कही जाय? वह है केवल धर्म की बात। तो धर्म की दिशा में कुछ पशु धर्मात्मा भी होते हैं। अनेक मनुष्यों से तो पशु भी धर्म में कुछ अच्छे होते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि हो जायें, देश संयम धारण करने लगे, तो अज्ञान मूढ़ पुरुषों से धर्म में भी पशु बढ़कर हो गए। हाँ, यह बात है कि धर्म की सबसे बढ़कर बात मनुष्य में ही हो सकती है। यह मुनि हो सकें, आत्मध्यान विशेष कर सकें, शुक्लध्यान बना सकें, अरहंत अवस्था प्राप्त कर सकें, मुक्ति प्राप्त कर सकें ये बातें मनुष्य में हैं। तो जिन बातों के कारण यह मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ है वे बातें इसमें न हों तो मनुष्य होना न होना किस काम का है। तो बोधिदुर्लभ भावना में हमें यह दृष्टि रखनी है कि हमने बहुत उन्नति करके आज यह मनुष्य की स्थिति पायी है। अब हम इस उन्नति को नष्ट कर दें, फिर अवनति में पहुँच जायें। यह तो कोई विवेक का काम नहीं है। कभी बहुत मेहनत करके ऊपर तक तो चढ़ गए और गिरने में तो कहीं विलम्ब नहीं लगता, झट गिर जाय तो यह स्थिति हम आपकी न बन जाय, इस ओर हम आपको विवेक रखना चाहिए। इस आत्मदेव के प्रताप से आज हम आप बहुत गुणी और उत्तम देश जाति वाले मनुष्य हुए हैं। हम आपको कुछ कलायें भी प्राप्त हुई हैं, किन्तु उन कलावों का प्रयोग यदि विषयकषायों के लिए ही हम करें कुछ समझदार हुए ना, इसलिए जरा-जरासी बातों में हठ करने लगे, जरा-जरासी बातों में क्रोध करने लगे, मायाचार चुगली करके हम कुछ अपनी चतुराई समझने लगे, तृष्णा करने लगे, ऐसे ही कर्म करके यदि हम अपने इस आत्मप्रभु पर हमला करते हैं तो इसका फल यह होगा कि हम

जिस भूमि से उठकर जिस निम्नदशा से निकलकर आज मनुष्य हुए हैं फिर से हम उसी निगोद दशा में पहुँच जायेंगे। कल्पना तो करो आज मनुष्य है और मरकर बन गए पेड़ पौधे तो क्या हालत गुजरेगी? और, यह बात क्या हो नहीं सकती? यदि अपने आप न चेतें तो ये सब बातें सब सम्भव हैं तो यहाँ तो जरासी हीनता हो गयी तो खेद मचाते हैं, और जब मरकर पेड़ पौधे हो गए तब फिर खेद का कुछ अनुमान रहा क्या? तो लोक का ऐसा स्वरूप जानकर और दुर्लभ से दुर्लभ चीज हमने पायी है ऐसा समझकर विषय कषायों से विराम लें और अपने आत्मा के उद्धार का यत्न करें।

### श्लोक-233

आयुः सर्वाक्षसामग्री बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता।

यत्स्यात्तत्काकतालीयं मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम्॥233॥

दीर्घायु पंचेन्द्रियत्व विवेकादि प्राप्ति की काकतालीयता—यह जीव निगोद से विकलत्रयों से निकलकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में पर्याप्त मनुष्य हो गया। इतने पर भी देश, जाति, कुल उत्तम न मिले तो भी बेकार सा है। देश, कुल, जाति भी अच्छे मिल गए तो अब ऐसी कौनसी स्थिति है जो इससे भी दुर्लभ है? दीर्घ आयु का होना, मनुष्य होना, गुणसम्पन्न होना, उत्तम देश जाति में होना। और अल्प आयु है, बचपन में ही गुजर गए तो उसने हित की साधना तो न कर पायी, इस कारण दीर्घ आयु का मिलना दुर्लभ है। जैसे बतलाया करते हैं लोग कि जो अच्छे बालक हैं, होनहार हैं वे बचपन में ही गुजर जाते हैं, तो दीर्घ आयु का मिलना दुर्लभ है। आयु भी बहुत लम्बी मिले पर आजीविका न रहे, इन्द्रियों की पूर्ण सामग्री न रहे तो वह भी आगे नहीं बढ़ सकता। गुण सम्पन्न भी है, लम्बी आयु भी है मगर दरिद्रता है जिससे निरन्तर चिन्ता बनी रहती है तो उसमें भी कुछ बात न बन सकी। तो इन्द्रियों की पूर्ण सामग्री होना यह दुर्लभ है। विशेष वैभव की जरूरत तो नहीं है किन्तु इतने साधन हों कि जिससे यह शरीर टिक सके, तब फिर वह धर्म के मार्ग में आगे भी बढ़ सकता है। सामग्री भी मिल गई किन्तु उत्तम बुद्धि न हो तो भी बेकार है, बुद्धि का क्षयोपशम तो मिला था, लेकिन बुद्धि खोटी ओर चलने लगी, व्यसनों में, पापों की चेष्टाओं में अथवा कुछ संहारक चीजों के निर्माण में तो उसका हितमय जीवन नहीं बना।

कषाय मन्दता उत्तम बुद्धि की प्राप्ति से भी दुर्लभ—उत्तम बुद्धि मिले यह भी दुर्लभ वस्तु है। उत्तम बुद्धि भी मिली पर कषायें मंद न हुई तो क्या लाभ? कोई लोग बुद्धिमान भी होते हैं पर कषायें तीव्र होने से अनाप सनाप प्रवृत्ति कर डालते हैं। तो मंदकषायों का होना यह सबसे अधिक दुर्लभ है और यों समझना चाहिए कि

इतनी बात होने पर मंद कषायों का भी मिल जाना ऐसा दुर्लभ है जैसे काकतालीय न्याय में कहा है। जैसे किसी ताड़ वृक्ष के नीचे से कौवा उड़कर जा रहा हो और उसी समय उस ताड़ से फल टूटे और कौवा चोंच में ग्रहण कर ले तो यह कितनी कठिन बात है। ऐसी ही कठिन बात समझना चाहिए, मनुष्य हो जाना और उत्तम देश, जाति, कुल, उत्तम बुद्धि ये भी मिलें और फिर मंद कषायें हों तो यह उत्तरोत्तर दुर्लभ चीज है।

**मंद कषाय से मनुष्य की उत्तमता**—मंद कषायों से मनुष्य की शोभा है, धर्म में प्रवृत्ति होती है, और लोगों का आकर्षण भी होता है, लोक का उपकार भी होता है, किन्तु तीव्र कषाय से न दूसरों का भला न खुद का ही भला होता है। आत्मा का अहित करने वाली ये कषायें ही तो हैं। जो आत्मा को कसें, दुःख दें, संसार में रुलायें उन्हें कषायें कहते हैं। तो मंद कषायों का होना यह बहुत ही ऊँची चीज है। हम सबका ऐसा ही यत्न हो कि कषायें छूटने का कोई निमित्त मिले, वातावरण मिले, तो यों समझो कि ये सब लोग हमारी परीक्षा करने के लिए ही मानो कुछ प्रतिकूल चल रहे हैं। उस वातावरण में भी अपने को मंदकषायी रख सकें, ऐसा यत्न होना चाहिए।

### श्लोक-234

ततो निर्विषयं चेतो यमप्रशमवासितम्।

यहि स्यात् पुण्ययोगेन स पुनस्तत्त्वनिश्चयः॥234॥

**विषयों से विरक्तता की दुर्लभता**—मनुष्य हुए, आयु मिली, बुद्धि अच्छी हुई, मंद कषाय भी मिल गया, पर विषयों से विरक्ति का परिणाम होना यह और भी कठिन है। यद्यपि थोड़ा विषयों की उपेक्षा किए बिना कषायें मंद नहीं होती लेकिन वैराग्य होना और बात है। वैराग्य होता है, सम्यग्ज्ञान से। मंद कषायें तो मिथ्यादृष्टि के भी हो सकती हैं। कोई दिगम्बर भेष धारण करके भी और इतनी ऊँची साधना करके भी कि शत्रु उसे कोल्हू में डालकर पेले तो भी वह शत्रु पर क्रोध न करे, इतनी भी मंद कषायें हो जायें तो भी मिथ्यात्व सम्भव है, रह सकता है। तब समझिये मिथ्यात्व कितना गहन अंधकार है? यहाँ एक तर्कणा उठ सकती है कि इतनी ऊँची तो साधना है, सब परिग्रह त्याग दिया और सभी प्रकार की ऋतुओं की बाधाएँ सहते हैं, इससे बढ़कर और क्या कि शत्रु भी उसे कोल्हू में पेल रहा है, फिर भी शत्रु के प्रति शत्रुता भाव नहीं है इससे बढ़कर और क्या चाहिए?

**पर्याय में आत्मीयता ही मिथ्यात्व का अस्तित्व**—फिर मिथ्यात्व कैसे रह गया? वह कौनसी धारणा है जिसमें मिथ्यात्व बसा है? तो मिथ्यात्व के जो लक्षण हैं उन लक्षणों की पद्धति से ही निर्णय करें तो यह बात

आती है कि पर्याय में उसने आत्मीयता मान ली है, मैं साधु हूँ, मैंने व्रत लिया है, मुझे निर्वाण जाना है, साधु के किसी शत्रु के प्रति विरोध न रखना चाहिए। अगर शत्रु पर क्रोध करे तो उसका निर्वाण न होगा। ऐसा उसको अपने साधुत्व की साधना में आत्मबुद्धि लग गयी है। अब सोचिये—एकदम तो यों लोगों के आता है कि वह अच्छा ही तो सोच रहा है कि मैं साधु हूँ, मुझे समता रखना चाहिए, विरोध न करना चाहिए, यह ठीक ही तो सोच रहा है, पर नहीं, अब भी उसके अन्तरङ्ग में ऐसी श्रद्धा है तो ठीक नहीं है। श्रद्धा यह होनी चाहिये थी कि मैं तो एक चैतन्यस्वरूप आत्मपदार्थ हूँ। अरे कोई गृहस्थी में रहता है तो मानता है कि मैं गृहस्थ हूँ इसी प्रकार किसी ने परिग्रह त्यागकर अपने को मान लिया कि मैं साधु हूँ, तो गृहस्थ भी एक स्थिति है और साधु भी एक पर्याय की स्थिति है। गृहस्थ ने गृहस्थी की पर्याय से आत्मबुद्धि कर ली तो वह अज्ञानी है तो साधु ने भी साधु की परिणति में आत्मबुद्धि कर ली तो वह भी अज्ञानी है, इतना अज्ञान का सूक्ष्म विष रह जाता है।

**तत्त्व निर्णय की दुर्लभता की प्राप्ति से सर्वस्व की सुलभता**—तो मंद कषाय होने पर भी निर्मल बुद्धि न रह पाये तो उसका भी आगे उद्धार नहीं है। विषयों से विरक्त होने का परिणाम होना, यम और शान्ति से सुवासित चित्त का होना यह बहुत ही कठिन बात है। यह ज्ञान होने पर सम्भव है। इससे पहिली बातें तो अज्ञान अवस्था में भी प्राप्त हो सकती हैं। पर एक शुद्ध निर्मल परिणाम, परतत्त्वों से वैराग्य का भाव यह बहुत ही कठिन चीज है और कुछ-कुछ यह भी होने लगे तो एकदम स्पष्ट तत्त्व का निर्णय होना यह अत्यन्त दुर्लभ है। तत्त्व निर्णय होने पर पदार्थों में प्रीति नहीं रहती और जब पर की प्रीति नहीं रही तो उसे सब समृद्धि मिल गयी। इस जीव को तो चाहिए शान्ति ही ना, परपदार्थों का समागम छोड़कर प्रथम तो यह जीव करेगा क्या? बहुत सी सामग्री जुड़ गयी उनमें जीव क्या करे, केवल एक अपनी कल्पना और विकल्प ही करना है, किसी पर का तो कुछ करता नहीं और जुड़ गया तो आखिर वह समूचा का समूचा छोड़ना ही पड़ेगा। कुछ दिनों का यह मेला है, जो कुछ भी समागम मिले हैं सबका वियोग अवश्य होगा तो लाभ क्या मिला? शान्ति तो नहीं मिल सकी, बल्कि अशान्ति का साधन रहा।

**तत्त्व विधान का लाभ**—तब निर्णय हो जाये, सर्व पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र हैं ऐसा ज्ञान में आने लगे तो अब इसे संयोग वियोग की आकुलता नहीं रही। जैसे व्यवहार में लोग कहते हैं कि अपनी संतान को बहुत योग्य बना दे, खूब पढ़ लिख जाय, ऊँचा पोस्ट पाने लगे तो उस ही को एक बड़ा वैभव मानते हैं। जो एक लखपति की कदर नहीं होती उससे अधिक कदर उस पढ़े लिखे की है जिसने गरीबी में पढ़ा है और किसी तरह अर्थोपार्जन करने वाली विद्या में पारंगत हो गया है तो उसे लोग उस ही दृष्टि से देखते हैं जैसे यह लखपति ही है। तो इस जड़ वैभव का संचय करने की अपेक्षा बच्चे को कुशल बना देना यह बहुत ऊँची बात है। उससे फिर वह जीवन में कष्ट नहीं पा सकता, वैभव का तो कुछ विश्वास भी नहीं, रह सके या ना रह सके, पर किसी न किसी ढंग से योग्यता पायी है तो वह अपना जीवन पार कर लेगा। तो जैसे लोकव्यवहार

में इस जड़ वैभव से भी अधिक महत्त्व की बात विद्याभ्यास को कहते हैं ऐसे ही समझिये कि सुख शान्ति के क्षेत्र में बड़ी समृद्धियाँ मिलने से भी अधिक महत्त्व की चीज तत्त्वनिर्णय है, जो भी दिखे इसी का ही स्पष्ट निर्णय है जिसमें उसे क्षोभ न हो। जीव देखो, पौद्गलिक पदार्थ देखो, कुछ भी चीज सामने हो उसे निरखकर उसका स्वतंत्र स्वरूप ज्ञान में आ गया। फिर क्षोभ नहीं होता। तो अत्यन्त दुर्लभ है तत्त्वनिर्णय। तत्त्वनिश्चय के बाद कोई कमी नहीं रहती, नियम से उसका उद्धार होगा।

### श्लोक-235

अत्यन्तदुर्लभेष्वेव दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित्।

प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित्कामार्थलालसाः॥235॥

दुर्लभतर तत्त्वोपब्धि होने पर प्रमाद न करने का अनुरोध—उत्तरोत्तर दुर्लभ और उनमें भी अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वनिर्णय जैसी बात पा लेने पर भी यदि कोई प्रमाद करे, काम और धन के लोभ में आकर सन्मार्ग से च्युत हो जाय तो यह बड़े खेद की बात है। देखिये इस जीव ने तत्त्वनिर्णय के पाने तक कितनी अच्छी स्थिति पायी है? इसे फिर से दुहरायें तो कितनी ही स्थितियाँ बन गयी। सबसे पहिले यह जीव निगोद था। निगोद से निकला तो प्रत्येक स्थावरों में पैदा हुआ। प्रत्येक स्थावरों से निकलकर दो इन्द्रिय में, दो इन्द्रिय से निकलकर तीन इन्द्रिय में, तीन इन्द्रिय से चार इन्द्रिय में, उसके बाद हुआ असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में, उसमें भी पर्याप्त हुआ, उसके बाद संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में वहाँ भी अपर्याप्त रहा तो क्या सिद्धि? उसके बाद संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त हुआ। यहाँ तक तो तिर्यञ्चगति मान लीजिए। चार इन्द्रिय तक तो केवल तिर्यञ्च ही होता है, अब इस तिर्यञ्च गति से निकलकर अन्य देव, नारकी कुछ बन जाय तो वहाँ संयम नहीं है। उन सबसे भी दुर्लभ चीज है मनुष्य का होना, और मनुष्य होने पर भी नीच हिंस्र बने तो क्या? उससे भी दुर्लभ है उत्तम देश जाति कुल का मिलना। इतना मिलने पर भी दीर्घ आयु विशेष आयु का मिलना दुर्लभ है। विशेष आयु के बाद फिर इन्द्रिय का साधन सामग्री मिलना दुर्लभ है, फिर उत्तम बुद्धि मिलना दुर्लभ है, मंद कषाय मिलना दुर्लभ है, चित्त का विरक्तपरिणाम होना दुर्लभ है। इतना सब मिले उससे यम नियम शुद्ध भाव, वैराग्य परिणाम मिलना दुर्लभ है। यहाँ तक करीब 20 बातें हो चुकी। तत्त्वनिर्णय भी प्राप्त हो जाय, बुद्धि तत्त्व को पकड़ने लगे, उस ओर दृष्टि जाने लगे, बड़ा अच्छा समय व्यतीत होने लगे, काम के वशीभूत हो, प्रमाद के वशीभूत हो, धन का लाभ हो जाय तो सब किया कराया भी खराब हो गया, भ्रष्ट हो गया। तो इस प्रकार धन के या अन्य किसी लोभ में आकर सन्मार्ग से च्युत हो जाता है। जीव की यह दशा बोधिदुर्लभ भावना में बतायी जा रही है। इससे यह

शिक्षा लेनी है कि अत्यन्त दुर्लभ हित की सामग्री पाकर हमें प्रमादी नहीं बनना चाहिए। प्रमाद का अर्थ है पापों में चित्त का लगना। मोक्षमार्ग में प्रमाद न करना चाहिए।

### श्लोक-236

मार्गमासाद्य केचिच्च सम्यग्रत्नत्रयात्मकम्।  
त्यजन्ति गुरुमिथ्यात्वविषयव्यामूढचेतसः॥236॥

**मिथ्यात्वविषयव्यामोह से सन्मार्ग का परिहार**—कोई-कोई पुरुष भली प्रकार रत्नत्रय मार्ग को भी पाकर तीव्र मिथ्यात्व विषय व्यामोही हुए सन्मार्ग को छोड़ देते हैं। इससे बढ़कर और क्या उदाहरण होगा कि कोई जीव सम्यग्दृष्टि हो, साधु हो, उपशम श्रेणी में चढ़कर 11 वें गुणस्थान में पहुँच गया, फिर वहाँ से गिर जाय, सम्यक्त्व भी छूट जाय और स्थावरों में जन्म लेना पड़े तो प्रमाद होने पर, कषायें जगने पर इतनी भी दुर्दशा हो जाती है। तब मनुष्य होना कोई एक मौज मत मानो कि हमने सब कुछ पा लिया, हमसे बढ़कर और कौन है, हम हर तरह से चतुर हैं ऐसा गर्व मत करो। पता नहीं इस भव के बाद फिर कौनसा भव बिताना पड़े। यदि ज्ञान न जगा, कुछ संयम मार्ग में न चले, अपने को संयत न बना सके तो सन्मार्ग छूट जायेगा।

**आत्महित में गृहीतमिथ्यात्व की प्रबल बाधकता**—एक गृहीत मिथ्यात्व होता है। वह तो बहुत अधिक प्रबल बाधक है। कभी इस जीव को उत्तम मार्ग मिले तो उसे भी यह छोड़ देता है। गृहीत मिथ्यात्व के मायने हैं जान बूझकर उपदेश सुनकर समझकर, पढ़-लिखकर कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र प्रीति करना इसका नाम है गृहीत मिथ्यात्व। आप देख लो रागी द्वेषी देवता के मानने वाले कितने मजहब हैं किन्तु उनका संकल्प कितना उसी ओर लगा हुआ है, उन्हें कोई समझायें तो उल्टा वे दूसरे को मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मानते हैं और अपनी जो प्रवृत्ति है उस गृहीत मिथ्यात्व सम्बंधी उस ही में वे अपनी चतुराई की प्रवृत्ति मानते हैं। अब जरा अपनी वर्तमान स्थिति पर तो कुछ दृष्टि कीजिए, कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, कुधर्म इनकी मान्यता भी नहीं रही, तो इतनी तक सुविधाएँ हैं, ऐसा सुन्दर वातावरण मिला है फिर भी हम ज्ञानोपयोग का यत्न न करें तो यह सब हमारा आलस्य है और हमें ही दुःख देने वाली बात है। यहाँ देख लो 24 घंटे में कितना समय व्यर्थ नष्ट होता है? लोगों को धन कमाने से बड़ी प्रीति है किन्तु धन कमाने में भी कितना समय लगाते हैं। बहुत-बहुत समय लगने पर भी 4-6-8 घंटे ही समय लग पाता है। बाकी समय का उपयोग है आप लोगों का, अपनी चर्चा में विचार लो किन्तु ऐसी मन में स्वच्छदता है कि समय तो खो देंगे नाना प्रकार से, पर ज्ञानार्जन के लिए ज्ञानदृष्टि के लिए कुछ समय न बचा सकेंगे।

**ज्ञान दृष्टि से शान्ति लाभ—**भैया !शान्ति मिलती है जिस किसी को भी तो एक ज्ञानदृष्टि से मिलती है। जब यह जीव अपने को इससे न्यारा केवल ज्ञानज्योति मात्र निर्लेप असहाय अकेला ज्ञानदृष्टि में लेता है तो उसके पास कोई विपत्ति नहीं फटकती। लोगों को तो यह विपदा लगी है कि लोग क्या कहेंगे? जिनमें हम रहते हैं वे क्या कहेंगे? अरे ज्ञानी के तो यह साहस जगता कि जिनमें हम रहते हैं वे यदि अज्ञानी हैं तो इनके कहने का बुरा क्या मानना, और यदि वे ज्ञानी हैं तो हम जितना उपेक्षा में चलेंगे, वैराग्य में चलेंगे वह तो सराहना करने वाला होगा। तो अपना निर्णय करना चाहिए कि हमको सही मार्ग कैसे मिले, शान्ति कैसे मिले, इस ओर अपना उद्यम होना चाहिए। जगत अपने को किसी तरह कुछ इन बातों का महत्त्व न देना चाहिए। बुरा कहते हों कहें, भला कहते हों कहें। भले शुद्ध मार्ग पर चलने पर भला कहने वाले तो बहुत कम हैं क्योंकि लोगों को भलाई से प्रीति है ही नहीं। हम यदि भलाई के मार्ग में चलें तो हमें भी अच्छा कहने वाला कौन होगा? तो बाह्य की कुछ हम परवाह न करें और हम अपने रत्नत्रय की, सम्यक्त्व की, ज्ञान की, चारित्र्य की साधना में रहें। बोधिदुर्लभ भावना में यही शिक्षा दी है कि दुर्लभ चीज तत्त्वज्ञान पाया है तो इसे स्थिर करें, प्रमादी बनकर इस तत्त्वज्ञान से च्युत न हों।

### श्लोक-237

स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिन्नष्टैश्च नाशितः।

कश्चित्प्रच्यवते मार्गाच्चण्डपाषण्डशासनैः॥237॥

**मार्ग से च्युत होने के कारण—**बोधि दुर्लभ भावना में उत्तरोत्तर दुर्लभ बातों की प्राप्ति होने पर भी जो कुछ पद से गिर जाता है उस गिरने में कुछ तो स्वयं ही लोग नष्ट हो जाते हैं तो अपने ही कारण से पतित हो जाते हैं। दूसरे जीवों की कुसंगति न मिलने पर भी अपनी ही कमजोरी से सत्यमार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं और कोई-कोई पुरुष नष्ट और भ्रष्ट हुए दूसरे पुरुषों के द्वारा बरबाद कर दिये जाते हैं। और कोई, लोग तो पाखण्डी जन हैं उनके उपदेशे हुए मतों को देखकर, उनकी बातों को सुनकर मार्ग से च्युत हो जाते हैं। उत्तरोत्तर उत्तम बात प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य जो गिर जाता है उसके तीन कारण बताये हैं। किसी के तो तीव्र पाप का उदय होता है अपने आपमें ही विकारों की कल्पनाएँ जगती हैं और अपनी कल्पनाओं से वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। दूसरी बात यह बताई है कि जो लोग ऐसे नष्ट हैं, भ्रष्ट हैं, हीन आचरणी हैं उनकी संगति पाकर उनके वातावरण में रहकर कोई लोग नष्ट हो जाते हैं, अपने इस ऊँचे मार्ग को छोड़ देते हैं। और कोई किसी चमत्कारिक लौकिक प्रभाव वाले पाखंडीजनों के उपदेश को सुनकर उनकी चमत्कारी माया

को निरखकर क्षुब्ध होकर नष्ट हो जाते हैं। इससे इन तीन बातों में सावधानी चाहिए ताकि सन्मार्ग से नष्ट न हो सकें।

**पतन से बचने के लिए सावधानी**—प्रथम तो ज्ञानदृष्टि से, स्वाध्याय आदिक से, सत्संगति से अपने आपको ऐसा सावधान बनाये रखना चाहिए कि स्वयं में कमजोरी न आ सके, भावों का बिगाड़ न आ सके और उत्तरोत्तर भाव सुधार पर ही बढ़ें तो यह प्रथम जो नाश का स्थान है उसे दूर हो जायेंगे। दूसरी सावधानी यह चाहिए कि हम खोटी संगति न करें। जो हीन आचरणी हैं, मोहीजन हैं, जिनका कोई शुद्ध लक्ष्य नहीं है ऐसे जनों की संगति से ही अपने भावों में कमजोरी आती है। और नष्ट हो सकते हैं। तीसरी सावधानी यह चाहिए कि अपना मनोबल अपना निश्चय दृढ़ हो कि कोई लौकिक चमत्कार वाला भी हो तो भी उससे आकर्षित न हों, ये तो सब संसार के खेल हैं, कोई किसी बात में बढ़ गया, लौकिक चमत्कार में बढ़ गया तो उससे आत्मा की सिद्धि नहीं है। मुझे लौकिक चमत्कार न चाहिए, मुझे इस जगत में बड़प्पन न चाहिए। मुझे तो आत्महित चाहिए। यह मेरा आत्मा अपने स्वरूप से जैसा सहज सिद्ध है वही स्वरूप चाहिए। ऐसी अपने शुद्ध लक्ष्य की दृढता बने कि कदाचित् कोई लौकिक चमत्कारक पाखण्डी साधुओं अथवा अन्य उपचेष्टाओं के भी चक्र में न आ सके। इस प्रकार सावधानीपूर्वक जो अपने रत्नत्रय में बढ़ता है उसको कहीं हानि नहीं हो सकती है।

### श्लोक-238

त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं सर्वाभिमतसिद्धिदम्।

अविचारितरम्येषु पक्षेष्वज्ञः प्रवर्तते॥238॥

**अज्ञानी का प्रवर्तन**—किसी भी स्थान से यह भ्रष्ट हो, लेकिन देखो तो आश्चर्य की बात कि सर्वप्रकार की मनोवाञ्छित सिद्धि को देने वाला विवेक पाया था। उस विवेकरूपी चिन्तामणि रत्न को छोड़कर जो यों केवल देखने में भले लगते हैं, ऐसे मतों में लोग प्रवृत्ति करने लग जाते हैं। यही तो मार्ग से भ्रष्ट होना है। जैन दर्शन ने कैसा सुयोग्य विधि से इस जीव को बाहरी कुतत्त्वों से छुटाकर, अज्ञान अंधकार से हटाकर अपने ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा में स्थिर कराया है। यह दृश्यमान सारा संसार, ये सभी पदार्थ इसके सम्बन्ध में जब तक सही निर्णय न हो तब तक इससे रागद्वेष नहीं हट सकते। भले ही कोई किसी भी लोभ से भगवत्भक्ति के लोभ से किसी भी प्रकार से रागद्वेष से दूर हटने का अपना रूपक बनाये, लेकिन जब तक पदार्थ का हमें सही स्वरूप ज्ञात न हो जाय तब तक कैसे राग हट सकता है? प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने ही स्वरूप से है, किसी का किसी पर अधिकार नहीं है। जितने उनके प्रदेश हैं, जितना उनका एरिया है निज

का उतने में ही मेरा सब कुछ है। ऐसे ही मेरे भी जितने प्रदेश पुञ्ज हैं उनमें ही मेरा सब कुछ है। गुण है, परिणमन है, सब कुछ मेरा उतने में ही है, इससे बाहर नहीं है। यों ही समग्र वस्तुओं का स्वरूप जिस ज्ञाता की नजर में रहता है उसका राग स्वयं हटा हुआ होता है।

**परवस्तु में परिणमन करने की अशक्यता**—मैं परवस्तु में क्या कर सकता हूँ? कौन मेरा है? आज मान लिया किसी वस्तु को कि यह मेरी है, कल के दिन इस जीवन तक मान रहे हैं कि यह वैभव मेरा और मरण के बाद किस पर विश्वास रखते हो कि यह वस्तु मेरी है। प्रथम तो उदय अनुकूल न होने पर इस जीवन में भी कोई आँखें दिखा सकता है। तो मेरा तो इस जगत में देह तक भी नहीं है। कौन चाहता है कि शरीर बूढ़ा बन जाय? सभी लोग चाहते होंगे कि शरीर स्वस्थ और जवान रहे, पर इस शरीर पर किसी का वश चला है क्या? कौन चाहता है कि मेरा शरीर दुर्बल हो जाय, यत्न भी बहुत-बहुत करते हैं, पर शरीर पर कुछ वश चलता है क्या? भले ही निमित्तनैमित्तिक वश शरीर की स्थिति है, बलवान है लेकिन वह मेरे करने से नहीं है। वह उसका निमित्तनैमित्तिक भाव है। जब जैसा निमित्त उपादान, जब जैसा परिणमन तब तैसा होता रहता है। मेरा अधिकार नहीं है। जब किसी वस्तु पर मेरा अधिकार नहीं है तो किसको माने कि यह मेरा है? यह अज्ञान सबसे जबरदस्त विपदा है। किस पदार्थ को माने कि यह मेरा है।

**वस्तुस्वरूप के यथार्थ बोध से मोहादिक दोषों का परिहार**—जब वस्तुस्वरूप का सही बोध होता है तब ही मोह और राग मिट सकते हैं, अन्यथा अनेक उपाय करें, राग और मोह न मिट सकेंगे। कुछ लोभ दे दिया, तुम राग छोड़ दोगे तो स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा। भले ही कोई स्वर्ग और मोक्ष के लोभ से यहाँ के घर का वैभव का राग छोड़ दें अर्थात् त्याग कर दें, छूट जाने पर भी छोड़ा तो नहीं गया। यथार्थ ज्ञान हुए बिना राग और मोह छूट नहीं सकते। सही ज्ञान होने पर राग मोह को छोड़ने के लिए कुछ श्रम भी नहीं करना पड़ता है। सही ज्ञान होने का ही नाम है मोह छूट जाना। शुद्ध ज्ञान का नाम है निर्मोह होना। तो निर्मोहता से तो धर्म का प्रारम्भ है और निर्मोहता यथार्थ ज्ञान बिना हो नहीं सकती, इसलिए यथार्थ ज्ञान करने का उद्यम करना चाहिए।

**व्यवहार धर्मों में उद्देश्य की लक्षितता**—हमारे जितने भी धर्म के काम हैं पूजा, स्वाध्याय, विधान, समारोह जितने भी धर्म के कार्य हों उन सब धर्मों के कार्यों में हमारा यह लक्ष्य होना चाहिए कि हम यह सब इसलिए कर रहे हैं कि मुझे यथार्थ ज्ञान मिले। रोज-रोज पूजा करने की जरूरत क्यों पड़ती है? इसलिए कि हमारा शेष समय रागद्वेष के बीच गुजरता है और जीव इसका जो कुछ ज्ञान कर पाया था उस पर आवरण हो जाता है। तब उस ज्ञान को फिर से जागृत करने के लिए हम प्रभुदर्शन को प्रभुपूजन को आया करते हैं। यहाँ भी हमारा लक्ष्य यह हो कि हम सही जानकारी करने के लिए आ रहे हैं। सही जानकारी में ही प्रभु की भक्ति करना है। यदि अन्य कुछ भाव बनाया, हमारा काम है, हमारा नियम है, मंदिर जाना इसलिए जा रहे

हैं, हमारे कुल की यह परम्परा है इसलिए जा रहे हैं, अथवा मंदिर जाने से ये सब धर्म के काम होते रहने से परिवार में सुख साता रहती है हमारे आजकल बहुत अच्छे दिन गुजर रहे हैं यह सब इन्हीं भगवान की कृपा है, तो ऐसा अपना रोज-रोज प्रभुभजन का काम रहना चाहिए। इन बातों में ही यदि हम मंदिर में आते हैं तो हमें मोक्षमार्ग का लाभ नहीं मिला। भले ही कुछ मंद कषाय होने से पुण्यबंध हुआ अथवा इसका भी क्या ठिकाना? यह भी मंदकषाय है या तीव्र इसका भी सही निर्णय नहीं है क्योंकि जो अपने परिवार की सुख समृद्धि के लिए प्रभुभजन करते हैं सम्भव है कि मोह और तृष्णा की वृद्धि का कारण हो, तब वहाँ पुण्य की भी आशा क्या? लक्ष्य अपना यह विशुद्ध होना चाहिए कि हम मंदिर आते हैं तो अपनी और पर की सही जानकारी बनाने के लिए आते हैं और निज को निज पर को पर जानकर, पर से छूटकर निज में मग्न होने का यत्न करने के लिए आते हैं। यह हमारा भाव होना चाहिए प्रत्येक धार्मिक कार्यों के करने में।

वर्तमान समागम का सदुपयोग व आत्महित के उद्यम का अनुरोध—बोधि दुर्लभ भावना में यहाँ यह बतला रहे हैं कि ऐसी अत्यन्त दुर्लभ चीज पायी, जैन शासन पाया, बुद्धि शुद्ध पायी, सब कुछ सही मिला, जिससे कुछ थोड़ा ही और विशुद्ध उद्यम बने कि पूर्ण अभीष्ट जो आत्मा वहाँ स्थित है वह प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन ऐसा पाप का उदय आता है कि अच्छे साधनों को भी त्यागकर केवल एक अविचारित रम्य अर्थात् जो बिना विचारे ही भले से लग रहे हैं ऐसे पक्षों में यह अज्ञानी जीव प्रवृत्त होता है। यहाँ बारबार यह चेतावनी देने की प्रेरणा की है कि हे मुमुक्षु पुरुष अथवा हे शान्ति चाहने वाले पुरुष ! आज जो कुछ तुम्हारी परिस्थिति है, जो कुछ तुमने पाया है यह बहुत अच्छी स्थिति है इसका सदुपयोग करो। विषय कषायें सांसारिक बाधाएँ न चाहकर केवल एक आत्महित में उद्यमी बनो। यदि यह अवसर छोड़ दिया तो पुनः ऐसा सुन्दर अवसर आना श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ कुल, श्रेष्ठ संगति इन सबका मिलना बहुत कठिन हो जाएगा।

### श्लोक-239

अविचारितरम्याणि शासनान्यसतां जनैः।

अधमान्यपि सेव्यन्ते जिह्वोपस्थादिदण्डितैः॥239॥

अधम पुरुषों द्वारा अविचारितम्य शासनों का सेवन—परिणामों में कलुषता को उत्पन्न करने वाली मुख्य दो इन्द्रियाँ हैं, एक जिह्वा इन्द्रिय और एक स्पर्शन इन्द्रिय। इन दोनों इन्द्रियों से दंडित होकर यह जीव अधम से भी अधम अविचारिक रमणीक शासन का सेवन करता है। अर्थात् कुछ मजहब ऐसे भी हैं जिसमें वैराग्य और ज्ञान की कुछ बात ही नहीं सिखाई वे धर्म का रूप देते हैं। इन्द्रियविषयों का ही वे सेवन करते हैं। तो यह तो लोक में होता ही रहता है मिथ्यात्व के वशीभूत होकर, लेकिन जिसको कुछ भी विवेक उत्पन्न हुआ है

उसे अपने विवेक का सही उपयोग तो करना चाहिए। जगत में जो कुछ भी हो रहा है वह तो एक जगत का स्वरूप है। यहाँ तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याआचरण का ही प्रताप है उसी पर यह सारा संसार टिका हुआ है। तो बहुतायत में लोग कैसे हैं, उनकी बातें निरखकर हमें अपना निर्णय नहीं बनाना है। जैसे किसी-किसी राज्य में प्रजा की राय पर राज्याधिकारी चुने जाते हैं, ठीक है, यह लौकिक बात है लेकिन मुक्ति के प्रसंग में हम यदि बहुमत देकर अपने पग धरें तो क्या हमारे सही पग उठ सकेंगे? धर्म के लिए अपने हित की प्रवृत्ति के लिए हम लोक में यह देखें कि सब लोग जैसा करते हों वह सही है। तो सब लोग तो मोह करते हैं, राग करते हैं। पक्ष करते हैं। सरासर जिनमें राग है वह अपराधी ही है किन्तु उसका समर्थन करते हैं। निरपराधों का समर्थन कौन करता है मोहवश? तो लोग जो कुछ करते हैं उसे देखकर हम यह निर्णय बनायें कि हमें क्या करना चाहिए, तो हमारा निर्णय हित का नहीं बन सकता।

**स्व के अनुशासन में विवेक की आवश्यकता**—यहाँ तो अपना विवेक चाहिए। उससे निर्णय करिये। दुनिया तो सब मिथ्यात्व में मोह में पगी हुई है उनके कार्यों को देखकर हम अपने कर्तव्य का क्या निर्णय बनायें? यह सारा जगत प्रायः जिह्वा इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय से प्रेरित है और वह इस कारण से अधम से अधम रसों का पालन करता है। विषय कषायों से तो सारी दुनिया परेशान है। धर्म का नाम लेकर भी विषय कषायों का सेवन जहाँ बता दिया गया है वह तो एक बड़े अनर्थ की बात है। जैसे मांस खाने का तो चाव है और लोक में अपने को बड़ा जताने का भी मन में चाव है तो मांसादिक खाते रहें और लोक में धर्मात्मा भी कहाते रहें। इसका उपाय उन्होंने क्या ढूँढ़ा है, यज्ञ है, बलि है, देवी देवता के नाम पर किसी पशु का घात कर दिया, फिर उसे यह देवी का प्रसाद है, फलां देव का प्रसाद है ऐसी बातें सुनाकर उस मांस का भक्षण करते हैं और कराते हैं। तो यों विषयों का पोषण भी करते रहें और धर्मात्मा भी कहाते रहें तो ऐसी बातें होना यह सब तीव्र मिथ्यात्व का फल है ऐसे पक्षों में अज्ञानी जीव ही प्रवृत्त होते रहते हैं। एक हिंसा की ही बात नहीं, सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ धर्म के नाम पर सकते हैं, यह सब मिथ्यात्व का परिणाम है। जो कुछ भी अपना धर्म माना, मजहब पक्ष माना उस पक्ष का पोषण झूठ बोलकर भी करना पड़े तो वह भी धर्म है, ऐसा धर्म के नाम पर जो घोषित करते हैं यह भी धर्म के नाम पर एक अधम मत बनाया गया है। कई जगह मंदिरों में सुना, उसका नाम देवदासी रख देते हैं तो विषयों के पोषण की प्रवृत्ति जहाँ बतायी गयी है ऐसे अधम मतों में अज्ञानी जीव ही प्रवृत्ति करते हैं और उनकी प्रवृत्ति का कारण है यह कि वे अपनी इन्द्रियों को नहीं जीत सके।

## श्लोक-240

सुप्रापं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे।

हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे॥240॥

बोधिरत्न को भ्रष्ट न होने देने का अनुरोध—संसार रूपी समुद्र में बोधिरत्न को अब तक नहीं पाया। बोधि का अर्थ है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय। रत्न क्योंकि समुद्र में उत्पन्न होते हैं इसलिए जहाँ हम रह रहे हैं उसे रत्नसमुद्र कहा है। निज समुद्ररत्न में से रत्न निकाल ले तो विवेक की बात है। इस संसार में रत्न भी मिल सकते हैं और मिलते ही यहाँ हैं, उस रत्नत्रय पर चलना भी यही हैं, जो भी चल सके, मगर इसका प्राप्त करना अति कठिन है। कितना गहरा समुद्र और जहाँ अनेक भयंकर जलचर, ग्राह, मच्छ, मगर मौजूद हैं, जहाँ भयंकर लहरें, उठा करती हैं ऐसे समुद्र के बीच से रत्नों का निकालना कितना कठिन है? इसी तरह इस संसारसागर में जहाँ अनेक व्याधि रोग दुःख आदिक लहरें भवें उठ रही हैं, जहाँ अनेक प्रकार के रागद्वेष मोह में जलचर, मच्छ, ग्राह, मगर खाने के लिए उद्यत हैं, जो काल की अपेक्षा, भाव की अपेक्षा बहुत विशाल हैं ऐसे संसार में बसकर कोई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन रत्नों को प्राप्त कर सके, उन्हें ले सके यह बात कितनी कठिन हो सकती है, बहुत कठिन बात है, अत्यन्त दुर्लभ है, लेकिन कोई जीव ऐसे दुर्लभ भी रत्न को पा ले और फिर खो दे, नष्ट कर दे अपनी कमजोरी से अथवा भ्रष्टों की संगति से अथवा पाखंडियों के उपदेश से उस रत्न को खो दे तो यों समझिये जैसे हाथ में रखे हुए रत्न को कोई समुद्र में डाल दे तो फिर मिलना अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार इस बोधि को पाकर इस बोधि को विषय कषायों में खो दे तो इसका पाना अत्यन्त दुर्लभ है। हम आप वर्तमान में बहुत अच्छी स्थिति पर हैं। नरक निगोद जैसी विचित्र गतियों से निकल आये, आज सब कुछ अच्छे साधन पाये हैं, लेकिन प्रमाद किया, उस आत्मतत्त्व की प्रीति न रखी, यों ही समय गुजर गया तो फिर ऐसा मौका मिलना बहुत कठिन है। ऐसा समझकर हमें इस आत्मधर्म में प्रीतिपूर्वक बढ़ना चाहिए। इसका यथार्थ ज्ञान करें और ज्ञानदृष्टि बनाकर अपने आपमें तृप्त रहने का यत्न करना चाहिए।

### श्लोक-241

सुलभमिह समस्त वस्तुजातं जगत्यामरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यां।  
कृतबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्, किमुत तदिदमेकं बोधिरत्नम्॥241॥

बोधिरत्न की दुर्लभता—इस संसार में सभी चीजों का मिलना सुलभ है किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप परिणाम का मिलना दुर्लभ है। शान्ति का कारण कोई सा भी परपदार्थ नहीं है, बल्कि

परपदार्थों का सम्बन्ध तृष्णा का कारण है और असन्तोष का कारण है। जितना मिला उससे अधिक और मिलना चाहिए, बस इस धुन में मिले हुए का भी सुख नहीं भोग सकते हैं। इस संसार में जितने भी ऊँचे-ऊँचे पद हैं, लौकिक सुख के जो साधन हैं, धरणेन्द्र होना सुरेन्द्र होना अथवा इनके जो अधिपति हैं उनसे भी बढ़कर जो अधिपति हैं वे सब सुलभ हैं। कर्मों के उदय से ये सब मिलते हैं जिसका वर्णन अभी इस बोधिदुर्लभ भावना में किया है। उत्तम कुल मिला, बल मिला, सुन्दरता मिली, अच्छी बुद्धि मिली, दीर्घ आयु हुई, ये सब सुलभ हुए किन्तु बोधिरत्न पाना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा ज्ञान मिलना जिस ज्ञान के प्रताप से यह आत्मा संसार के समस्त संकटों से छूटकर संकट रहित निर्वाण पद में जा विराजे, ऐसा भाव मिलना यह एक दुर्लभ चीज है। आज तक संसार में भ्रमण करते हुए क्या-क्या नहीं पाया? जो आज समागम मिला है इससे करोड़ों गुना समागम पाया। बड़े-बड़े महाराजा भी हुए, देव भी हुए सभी लौकिक बातें पायीं किन्तु एक सम्यग्ज्ञान नहीं पाया।

**यथार्थ ज्ञान में अशान्ति के कारण का अनवकाश—**भला जिस ज्ञान में समस्त पदार्थों का सही स्वरूप आ रहा हो, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने-अपने प्रदेशों में ही है, अपने ही परिणमन से परिणमते हैं। किसी का कोई अधिकारी नहीं है। जैसे सामने दिखने वाले जो पदार्थ हैं चौकी है, पुस्तक है, घड़ी है, ये सब न्यारे-न्यारे नजर आ रहे हैं। ऐसे ही जितने भी द्रव्य हैं वे सभी द्रव्य न्यारे-न्यारे—स्वयं अपने ही अपने गुण पर्याय में हैं, अपने ही प्रदेशों में हैं। किसी का किसी दूसरे में कोई अधिपत्य नहीं है ऐसा नजर में आये जिस ज्ञान में उसमें अशान्ति को कोई कारण नहीं है। अशान्ति होती ही तब है जब किसी परपदार्थ पर हमारा आकर्षण हो, उसे हम चाहते हों, उससे सुख मानते हों, उससे अपना बड़प्पन समझा हो और वह चूँकि है नहीं मेरा, वास्तव में भिन्न है, अपनी सत्ता अलग रखता है तो जब उसे रहना हो रहेगा, जाना हो जायगा और जिस तरह उसे परिणमना होगा परिणमेगा, हम उसको देखकर दुःखी क्यों हो, हाँ ऐसा क्यों न हुआ? तो जगत में सभी चीजें सुलभ हैं, परन्तु सम्यक्त्व का पाना, रत्नत्रय का पाना यह एक दुर्लभ है।

**दुर्लभ बोधि प्राप्त करके परोपेक्षण करने का अनुरोध—**यह बोधिदुर्लभ भावना है जिसमें यह भावना भायी है कि देख भाई तू कभी निगोद में था, वहाँ से निकलकर एकेन्द्रिय में, फिर दो इन्द्रिय में, तीन इन्द्रिय में, चार इन्द्रिय में, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त में, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त में, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त में संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त में—पैदा हुआ। यहाँ तक तिर्यञ्च में ही रहकर इतनी उन्नति की थी। वहाँ से निकलकर अन्य-अन्य गतियों में गया और फिर सबसे श्रेष्ठ जो मनुष्यगति है उसमें तू आ गया। देखिये कितनी निकृष्ट स्थितियों से उठकर तू आज इतनी ऊँची स्थिति में है। मनुष्य में तू पर्याप्त है और फिर गुणसम्पन्न है, उत्तम देश जाति वाला है, आयु भी विशेष मिली है, साधन भी आजीविका के सही हैं, बुद्धि भी उत्तम है, शान्त परिणाम भी मिला है। अब केवल एक ही बात की कमी है कि ऐसी स्वच्छ श्रद्धा बने जिससे कि तू तत्त्व निर्णय कर ले। सब कुछ पाया पर तत्त्वनिर्णय की बात नहीं पायी। तत्त्वनिर्णय में ही बोधि भरी है। उसी में

सम्यक्त्व है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है। जैसे हम इन चीजों को निरखते हैं और निरखकर बताते यह हैं ऐसे ही अपने ही में लगे हुए देह को निरखकर यह उपयोग क्यों नहीं जमता कि यह देह शरीर परमाणुओं का पुञ्ज है, यह मैं नहीं हूँ। मैं जानन देखनहार इस शरीर गृह में रहता जरूर हूँ इस समय, पर शरीर ही में नहीं हूँ। इतना भी निश्चय नहीं दूसरों को मरते हुए भी देखकर कि यह जीव न्यारा है, इस शरीर को छोड़कर चल देता है।

**शरीर से भिन्न जीवत्व का निश्चय**—कोई यह कहे कि शरीर छोड़कर क्या चल दिया, जीव कोई है ही नहीं। शरीर में जब तक कर्म हैं उसका नाम जीव रख दिया। जीव अलग कैसे? तो इस पर युक्तियाँ देखिये, जितने भी जड़ पदार्थ हैं उनके स्वभाव पडा है, उनका कैसा भी मिलान हो जाय, किन्तु जड़ से ज्ञान की उत्पत्ति हो जाय यह युक्ति में नहीं बैठता। जिस पदार्थ का जो स्वरूप है वह स्वरूप सदा रहता है। जड़ में जड़ता सदा रहेगी, जीव में ज्ञानस्वरूपता सदा रहेगी। यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनके मिलने से जीव उत्पन्न हो जाय तो रसोई बनाते समय किसी मिट्टी के बर्तन में खिचड़ी तक पक रही है तो उस समय क्या कमी रह गयी? पृथ्वी भी हैं, जल भी हैं, अग्नि भी हैं, हवा भी हैं। वहाँ से क्यों नहीं मनुष्य निकल पड़ते? वहाँ से क्यों नहीं पशु पक्षी उत्पन्न हो जाते? जीव तो अपनी एक स्वरूप सत्ता रखे हुए है। है ना जीव। इतना तो मानेंगे कि ज्ञानमय कोई चीज है। अब जो चीज होती है उसका त्रिकाल विनाश नहीं है, कभी नष्ट नहीं होता। रूप बदल जायगा। यदि ज्ञानमय आत्मपदार्थ इस शरीर में है और कुछ समय बाद नहीं रहता तो उसी का नाम मरण है सो दूसरे को देख देखकर भी हम यह निर्णय नहीं रखते कि हमारा भी वही समय अति निकट आने को है जब तक भी इस मनुष्य देह को त्यागकर चल बसेंगे। आज जो मौका मिला है, बुद्धि मिली है तो हम धर्म के लिए ज्ञानार्जन के लिए क्यों न अधिक से अधिक अपना उपयोग करें?

**बाह्य वैभव आकर्षण की व्यर्थता**—भैया ! बाहरी चीजें, वैभव पैसा कमाना अपने पुरुषार्थ के अधीन बात नहीं है। वहाँ कर्मोदय साथ रहता है तभी तो यह बात है कि बड़े-बड़े पुरुषार्थ करने पर भी किसी के पास यह धन नहीं आता और कोई-कोई लोग आराम से बैठे रहते हैं फिर भी बहुत धन आता है। तो यह धन वैभव बहुत-बहुत श्रम करने से जुड़ जाय ऐसी बात नहीं है। किन्तु धर्म की बात आपके पुरुषार्थ से तत्काल होती है, जब आप अपने स्वरूप का श्रद्धान् करते जायेंगे, उसका ज्ञान करना चाहेंगे, उसकी रुचि रखेंगे तो अपने उपयोग को अपने आपमें डुबाने भर की भी तो बात है। धन वैभव का कमाना अपने हाथ की बात नहीं है और अपने आपमें मग्न होना, धर्म पालन करना और स्वाधीन आनन्द भोगना यह अपने हाथ की बात है। तो जो स्वाधीन बात है, सुगम है उस ओर तो हम दृष्टि नहीं देते और जो पराधीन है उसमें हम अपना आकर्षण रखते नाता जोड़ते हैं, यह हालत है। सो यहाँ किसको क्या बताना? सभी लोग जो दृश्यमान हैं कुछ दिन जी कर मरेंगे और ये भी मायारूप हैं ये खुद मोही रागी हैं, कर्म कलंक से मलीमस हैं। कोई प्रभु है क्या यहाँ? ये कोई काम न आयेगा। ऐसे इस लोक में हम बड़े हैं। हम धनाढ्य हैं, गुणी हैं, नेता हैं, ऐसा कुछ भी

दिखायें तो किसलिए दिखायें? क्या ये प्रभु हैं, क्या इनके हाथ में हमारा सुख दुःख है? कुछ भी तो नहीं है। हमें अपने ढंग से चलना है और ढंग से चलते हुए में निमित्त होते हैं तो हों। धन आता है तो आये, पर हम किसी को रिझाने के लिए, किसी को खुश करने के लिए, किसी से प्रशंसा लूटने के लिए हम कुछ करनी करते हैं तो वह बड़ा अंधकार है, अज्ञान है, अपने आपका ही कुछ पता नहीं है, सुध नहीं रही, फिर तो दुनिया को दिखाने के लिए हमें कुछ नहीं बनना है।

**शान्ति के अर्थ सुबोध का उद्यम**—भैया ! अपने आपको मैं कैसे शान्ति में लगा सकता हूँ, क्या ज्ञान बनाना है, किस प्रकार का आचरण करना है? यह निर्णय करें और उस तरह से रहें, फिर जो होना है सो होने दो। सबसे उत्कृष्ट चीज है तो अपने आपकी सुध रहना, अपनी ओर झुकाव रहना। लोक में भी जब बड़े-बड़े संकट आ जाते हैं उन संकटों के समय में कौन साथ देता है? खुद ही भेद विज्ञान करते हैं और पर वस्तुओं से अपनी दृष्टि हटाकर अपने में विश्राम करते हैं तो शान्ति मिलती है। अशान्ति है किस बात की, सिवाय इस कथन के इस बात के और कुछ न पायेंगे कि अमुक को परद्रव्यों में राग है, मोह है इस वजह से उसे दुःख है। जितने भी दुनिया में दुःख हैं उन सबका कारण इतना ही है कि किसी न किसी परद्रव्य में राग है सो उसे दुःख है। जगत में सभी दुःखी है और सबकी रिपोर्ट ले लो। सबके दुःख की कहानी सुन लो और बराबर निर्णय देते रहो, देखो इससे अत्यन्त भिन्न है परद्रव्य, पर उसके प्रति राग भाव है उसको सो उसे दुःख है। और यह व्यर्थ का दुःख है। मैं तो एक स्वतंत्र आत्मा हूँ, मेरा किसी परद्रव्य से कुछ सम्बन्ध नहीं है। यदि ये परद्रव्य पास रहें तो इससे आत्मा का बढ़ावा हो जायेगा और न रहें तो इस आत्मा का क्या घट जाएगा? आत्मा में जितनी शक्तियाँ हैं ज्ञान, दर्शन, आनन्द जितने भी गुण हैं क्या उनमें कोई गुण कम हुए हैं आज तक—क्या स्वरूप बदला है, क्या पदार्थ अपने लक्षण को कभी छोड़ सकता है? क्या दुःख है, क्या क्लेश है। अजी लोग मुझे क्या समझेंगे यह सब कुछ नहीं रहे, इसका दुःख है। तो अज्ञान होने का ही तो दुःख हुआ। तुम्हें क्या लोगों से पडी है, ये लोग करेंगे क्या तुम्हारा? अपने आपका झुकाव बने अपनी ओर मुड़ जावो। आज मनुष्य हैं सो ऐसी बातें हाँकते हैं और मनुष्य का लिहाज करते हैं। इनमें अपने को बड़ा जताना चाहते हैं। कल्पना करो कि आज मनुष्य न होते, किसी बिल के चींटी चींटा होते तो हमारे लिए मनुष्यों का रुझान क्या होता? समझ लो हम इस मनुष्य भव में न होते, अन्य किसी भव में होते तो यहाँ का दृश्यमान कुछ भी मेरा न होता ना? हो गए मनुष्य तो अब लौकिक आकर्षण की बात छोड़कर जिसमें आत्महित हो उस बात में लग जावो।

सब चीजें इस जीव ने अनेक बार पायी, पर रत्नत्रय नहीं पाया। देखिये लोग पूछते हैं कि आपका स्वास्थ्य कैसा है? तो क्या पूछा आप अपने आत्मा में कैसे ठहर रहे हैं, ठहर पाते हैं या नहीं? यह अर्थ है, पर यह सुनने वाला अपने शरीर को निरखकर मूँछों पर ताव देकर कहता है हाँ मैं बहुत स्वस्थ हूँ। अरे पूछा तो कुछ और उत्तर कुछ दिया। पूछते है लोग कि आप प्रसन्न हैं ना, तो क्या है प्रसन्न का अर्थ? जो शब्द

का अर्थ जानते हैं समझ जायेंगे। प्रसन्न का अर्थ है निर्मल होना, निर्दोष होना। जैसे बताते हैं कि शरद ऋतु में तालाब प्रसन्न हो जाते हैं। मायने निर्मल हो जाते हैं। तो पूछ तो यह रहे हैं कि आप प्रसन्न हैं ना, विकार तो नहीं है चित्त में और उत्तर क्या देते हैं खूब काम चल रहा है, लड़के बच्चे बहुत हैं, हम बहुत प्रसन्न हैं। सारी मलिनता की बातें बताते हैं। तो शब्द का मर्म न जानने से तो बिल्कुल बहरें की तरह हैं। जैसे कोई बहरा था, बाजार से बैंगन खरीद कर चला। रास्ते में उससे एक किसान ने पूछा और कुछ, उसने जवाब दिया और कुछ। किसान ने पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं? उत्तर दिया हम बैंगन लिए जा रहे हैं। फिर पूछा घर में बाल बच्चे अच्छे हैं ना, उत्तर दिया—सारों को भुनकर खायेंगे। तो ऐसे ही पूछते हैं कुछ, उत्तर कुछ देते हैं। शब्दों में सारे उपदेश भरे हैं। कोईसा भी शब्द ले लो। वह शब्द ही अपना स्वरूप बता देता है।

**आत्मा व पुद्गल शब्द से उन पदार्थों के मर्म का दिग्दर्शन—**आत्मा का अर्थ क्या है? जो ज्ञान द्वारा सारे लोक को व्याप ले उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा-आत्मा सब कहते हैं, पर आत्मा का स्वरूप क्या है, यह स्वरूप शब्द ही बतला देता है। ये जो जड़ पदार्थ रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं इन पदार्थों का नाम क्या है? इनका नाम दिया है जैन शासन में पुद्गल। अब इनको कोई पदार्थ बोलेंगे। तो पदार्थ तो जीव भी होते हैं, कोई मैटर लेंगे। अरे तो मैटर—पदार्थ वस्तु ही तो हुए। अब पुद्गल का अर्थ समझो। इसमें दो शब्द भरे हैं जो पूरे और गले उसका नाम पुद्गल है। अर्थात् जो मिलकर बढ़ जाय और घट कर गल जाय उसका नाम पुद्गल है। ये पदार्थ मिल-मिलकर एक बन जाते हैं पर जीव में यह खासियत है कि जीव-जीव मिलकर एक नहीं बन सकते बढ़ नहीं सकते। और जब मिल सकते तो गलने की तो बात ही क्या है? धर्मद्रव्य है वह भी मिलता गलता नहीं, कालद्रव्य भी मिलता बिछुड़ता नहीं है। एक पुद्गल ये परमाणु ऐसे हैं कि ये मिलकर एक पिण्ड बन जायें और बिछुड़कर गलकर अलग-अलग हो जायें यह विशेषता जिसमें हो उसका नाम है पुद्गल। कोई कहेगा भौतिक पदार्थ। भौतिक का अर्थ क्या है? जो भूत से बना है भौतिका। भूत भू धातु से बना है। जो है उसका नाम है भूत। जो सत् हो। यह सत् नाम चलता है हर जगह तो भूत शब्द से विशिष्ट पदार्थ तो वाच्य न हुआ। जैन शासन में जो-जो मूल नाम रखे गए हैं परिभाषा में वे कितना विचारों से भरे हुए हैं? इस समय हम आप जो एक-एक बैठे हुए हैं इनमें जीव तो एक है, पर मैं अपने आपका जीव हूँ, मुझमें मेरा अपना जीव है। जीव तो एक है और अनन्त शरीर के परमाणुओं का पुञ्ज है और इसके परमाणुओं से भी अनन्त गुने कर्मों का ढेर लदा हुआ है। इस तरह यह जो एक पर्याय है यह अनन्त शरीर वर्गणाओं का और अनन्त कर्म परमाणुओं का पिण्ड है और जीव केवल एक है। ये कई चीजें बन गयी, यह अनेक परमाणुओं का ढेर है। तो देखो शरीर-शरीर मिलकर एक पिण्ड बन जाय और जीव-जीव मिलकर कभी एक नहीं बन सकते। लेकिन इस मोही जीव को अन्य जीवों में कितना मोह बसा हुआ है जो कभी भी किसी भी ढंग से एक नहीं हो सकते।

**वस्तुस्वातन्त्र्यबोध का लाभ**—वस्तु का स्वतंत्र रूप है वह ध्यान में आ जाय तो उससे बढ़कर और कोई शोभामयी चीज नहीं है। यहाँ की भी चीजें सदा पास न रहेंगी, और मानो रह भी जायें पास और ज्ञान सही नहीं है तो सुख नहीं मिल सकता और ये पदार्थ न भी हों पास और ज्ञान सही है तो वहाँ सुख मिल सकता है। परमार्थ से विचार करो तो जो पराधीन है वह दुर्लभ है और जो स्वाधीन वस्तु है वह सुलभ है। जो पराधीन चीज है उसे तो यह मोही सुलभ मानता है और जो खुद की चीज है उसे दुर्लभ मानता है। जब तक यह आत्मा अपने स्वरूप को नहीं जानता, कर्मों के अधीन है तब तक अपना स्वभाव पाना इसे अत्यन्त दुर्लभ हो रहा है। इस बोधिदुर्लभ भावना को सोचकर हम अपने चित्त में यह निर्णय बनायें कि जब एक किसी भी प्रकार हम अनेक खोटी स्थितियों से निकलकर आज मनुष्य हुए हैं, उत्तम जाति कुल प्राप्त हुआ है, बुद्धि भी मिली है, जैन शासन मिला है, सत्संगति मिल रही है तो कितना उत्कृष्ट अवसर मिला

है? अपना अपूर्व लाभ उठाने का भीतर में विवेक बने, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र नजर आयें जिससे पर से उपेक्षा बने, अपने आपमें रुचि जगे, अपने आपमें मग्न हो सकें, ऐसा अपना भीतरी पुरुषार्थ बन सके तो वह समझिये कि सच्चा पुरुषार्थ है और इसी से ही हमारा मनुष्य होना सफल है।

## श्लोक-242

दीव्यन्नाभिरम्यं ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम्।

इहैवाप्नोत्यनातकं सुखमत्यक्षयम्॥242॥

**द्वादश भावनाओं में अनित्यभावना का प्रभाव**—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म, ये बाहर भावनाएँ हैं। इनके भाने से ज्ञानी जीव इस लोक में भी बाधारहित होता है और अतीन्द्रिय अविनाशी सुख को भी प्राप्त करता है। जीव का उपयोग संभालने का सुगम साधन भावनायें भाना है। बताया है कि ये भावनायें जैसे-जैसे जगती हैं वैसे ही वैसे समता प्रकट होती है जैसे-जैसे हवा लगती है वैसे ही वैसे अग्नि सवेग जलती है तो जैसे अग्नि की जलने का साधन हवा है ऐसे ही समता के जगने का साधन भावना है। जब तक इस जीव को इन पदार्थों में नित्यता का कुछ विश्वास है तब तक यह जीव दुःखी है। जो घर मिला है, जो समागम मिला है वह समागम मेरे पास रहेगा ऐसी अगर श्रद्धा है तो उसे दुःख होगा क्योंकि मान रखा कि यह नित्य है, किन्तु वह अपने समय पर मिटेगा। तो भावना कुछ हो, बात बन जायें कुछ, उसका दुःख होता है। जैसे कोई चीज आपने आज खरीदी और ख्याल बनाया है कि इसमें तो 10 हजार बचेंगे, कल के दिन उसमें 5 हजार का टोटा नजर आये तो उसमें वह दुःखी

होगा। यदि पहिले से ख्याल न जगे तो टोआ होने पर भी उतना दुःख न होगा। तो बात जैसी है वैसी ही सोच लीजिए तो उसमें परमार्थ से क्लेश नहीं है। जितने समागम हैं वे सब अनित्य ही दिखे तो कभी क्लेश न होगा। इष्ट का वियोग हो गया तो झट यह ज्ञान जगेगा कि लो यह तो पहले से ही जान रहा था। जो जान रहा था वही हो गया। कुछ नया नहीं हुआ। तो अनित्य भावना का यह बड़ा प्रसाद है कि जीव को क्लेश नहीं होता। हम पहिले से ही जान रहे थे कि सब अनित्य है। मर गया, मिट गया तो वही तो हुआ जो हम पहिले से जान रहे थे।

**अशरणभावना का प्रभाव**—अब अशरणभावना का प्रभाव देखिये मोही जीव बाह्य पदार्थों की शरण मानते हैं। मेरे चाचा, पिता, पुत्र, मित्र ये सब बड़े सहाय हैं। ये लोग तो मेरे लिए जान तक भी देने को तैयार हैं बड़े आज्ञाकारी हैं, स्वप्न में भी ये मेरे खिलाफ नहीं हो सकते, इनका और मेरा एक चित्त है, ऐसा किसी के सम्बन्ध में विश्वास कर रखा हों और चूँकि ऐसा होगा नहीं। कौन किसका शरण है, कौन किसका सहाय है, कौन किसका क्या लगता है? सबका स्वतंत्र आत्मा है, सबका स्वरूप न्यारा है, सभी अपने आपमें परिणामते हैं। संसार अवस्था में विषय कषायों का स्वार्थ लगा है, उस स्वार्थवश प्रेम का व्यवहार होता है। तो चूँकि शरण नहीं है ना और मान रखा है शरण। तो जब कभी वहाँ अपने को मदद न मिलती हो या अपना काम न बनता हो तो उस समय इसे बड़ा कष्ट होता है। जिसे आप अपना विरोधी मानते हैं वह पुरुष आपका कुछ विरोध करें तो उसमें आपको खेद न होगा क्योंकि आप जान रहे थे कि यह हमारा विरोधी है। और, कोई हार्दिक मित्र हो, वह कोई विरोध की बात कह दे तो उसको कितनी चोट लगती है? तो जो बात जैसी है उसे उस रूप में न जान सके यह खेद का कारण है। और, सही जानकारी पहिले ही रहे तो इसे खेद नहीं हो सकता। यहाँ कोई शरण नहीं है, पुत्र हो, मित्र हो, परिवार हो, वैभव हो, कोई हो मेरा कोई शरण नहीं है। परमेष्ठी भी व्यवहार से शरण हैं। कहीं आपका हाथ पकड़कर या आपके आत्मा में आकर आपका भला कर दें प्रभु, ऐसा तो नहीं है। यह तो द्रव्य का स्वरूप ही है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। तो जब लोक में मेरा शरण नहीं है और फिर मानें हम शरण तो उसमें क्लेश होता है। तो अशरण भावना के प्रसाद से समता जगती है। कोई नहीं हो रहा शरण तो समता रखता है क्योंकि हम समझते ही थे और बात है भी कि किसी का कोई शरण नहीं है। परवस्तु को शरण माने तो समता नहीं जग सकती।

**संसार भावना में अनुप्रेक्षण**—तीसरी है संसारभावना। संसार दुःखमय है। कहीं भी किसी भी जगह कुछ भी शान्ति अथवा आनन्द बरस हो तो बतावो। अगर है भी तो संसार के प्रताप से नहीं है क्योंकि जिसे आत्मस्वरूप में लगाव है उसे संसारी न समझिये। वह तो संसार से विदा होने वाला है। संसार में कोई सुखी नहीं है। करोड़पतियों को, अरबपतियों को सभी को देख लो, अधिकारियों को, मिनिस्ट्रों को देख लो, कोई मिनिस्टर जिम्मेदारी महसूस करता है तो देश के सुखी रहने की चिन्ता में वह दुःखी रहता है, किसी मिनिस्टर को धन से घर भरने की चिन्ता है तो वह रात दिन धन कैसे मिले, इस चक्कर में रहता है, रिश्वत

ले, पक्ष करे, चालबाजी करे, दूसरों से बचने का उपाय सोचे यों रात दिन व्याकुल रहता है। जो गरीब है वह अपने को गरीबी से दुःख महसूस करता है। संसार में कोई सुखी नजर नहीं आता। यदि कोई पंडित है तो उसके उस ढंग का दुःख है। कहीं ऐसा न हो जाय कि किसी सभा में हम किसी से हार जायें, हम किसी के प्रश्न का उत्तर न दे सकें तो क्या हाल होगा, उनके यह चिन्ता लगी रहती है जो विद्वान है, समझदार हैं। और जो मूर्ख है वे उनके प्रताप को देखकर मन ही मन कुढ़ा करते हैं। सो यहाँ कोई जीव सुखी हो तो बतावो। यह तो मनुष्यों की बात है। तिर्यञ्चों में पशु, पक्षी, कीड़े, पेड़ सभी देख लो दुःखी हैं। तो संसार है दुःखमय और कोई माने कि हमें तो बड़ा सुख है तो यह उनकी उल्टी मान्यता है। इस संसार में रहते हैं तो रहने के कारण जो अपने को सुखी माने उसको नियम से क्लेश होगा, क्योंकि सुख है नहीं और उसे मान लिया सुख। जो काल्पनिक सुख है वह रहता तो है नहीं, और जितने दिनों को मिला है उतने दिन भी लगातार सुख नहीं है। कोई सा भी सुख ले लो, स्त्री का सुख है, नव विवाह हुआ है, बड़ा काल्पनिक मौज माना है, पर थोड़े-थोड़े समय में ही कोई न कोई दुःख की कल्पनाएँ जग जाती हैं, और फिर जब बड़े हो गए, संतान हो गई तो सबके पालन पोषण की बात आ गई, कोई प्रतिकूल हो तो उसे मानना, सबकी बात सुनना, सबमें दुःख। तो सुख तो है नहीं और माने सुख तो उसे नियम से क्लेश है, तो कर्तव्य यह है कि सुखी भी हो तो भी मानते रहें कि संसार सुखमय नहीं है। यह सुख क्या सुख है जो कर्मों के अधीन है। दूसरे जीवों के विषयों के साधनों के अधीन है, जिनमें दुःख भी बसे हुए रहते हैं, जिन सुखों के भोगने से पाप का बंध होता है और आगामी काल में पापों का फल भी भोगना पड़े ऐसा सुख क्या सुख है। ऐसा ज्ञान बनायें रहें और सुख में न रहें तो भी हानि नहीं है। परपदार्थ के स्वरूप का ज्ञान उल्टा हो तो नियम से दुःख है।

**अनित्य, अशरण, भावना में अन्तःमर्म**—अब जरा इन भावनाओं में कुछ छिपे हुए मर्म की बात देखो। अन्यथा भावना भाते रहे कि सब अनित्य है, राजा, राणा, छत्रपति सभी मरेंगे, हम भी मरेंगे, सब विनाशीक हैं, ऐसी भावना भाते ही रहे तो शान्ति क्या मिल पायेगी, इससे तो एक घबड़ाहटसी आ जायगी। तो अनित्य-अनित्य सोचते रहने से ही शान्ति न मिलेगी। अब दूसरे तरफ की बात कह रहे हैं। पहिले यह बताया था कि सबको अनित्य जानते रहें तो दुःख न होगा। अब यह कह रहे कि अनित्य ही जानते रहें, सभी मरेंगे, सभी मिटेंगे, तो इसमें सुख कहाँ से आयेगा? तो इसके साथ यह भी भावना भाना चाहिए कि मेरा जो नित्य स्वरूप है वह कभी न मरेगा। इतनी बात का पता न हो और अनित्य ही सोचते जावो तो अनित्य भावना का फल नहीं मिल सकता। समस्त पदार्थ पर्यायदृष्टि से अनित्य हैं, पर द्रव्यदृष्टि से वे सब नित्य हैं। यह दुहरी बात, दोनों नयों की बात, समझ में हो तो अनित्य भावना से कुछ फायदा है। अशरण भावना में क्या सोचा था कि कोई मेरा शरण नहीं है। उससे फायदा था, लेकिन यही-यही सोचते जायें, मेरा कोई शरण नहीं, सब धोखा देने वाले हैं, छल करने वाले हैं, ऐसा ही सोचते रहें तो शान्ति कैसे मिलेगी। यह भी कुछ ज्ञान होना

चाहिए कि ये सब शरण तो हैं नहीं, पर मेरे कोई शरण है भी कि नहीं। मेरे लिए मेरा आत्मा शरण है। जो ज्ञानानन्दस्वरूप स्वरूप हो उस स्वभाव की दृष्टि जगे वह शरण है। तो दोनों बातें ध्यान में रहनी चाहिए। परपदार्थ कोई भी शरण नहीं और रागादिक परभाव भी मेरे शरण नहीं, किन्तु मेरा जो सहज स्वरूप है, ज्ञानानन्द स्वभाव है वह स्वभाव मेरे को शरण है। इस शरण का पता हो तो अशरण भावना भाने में प्रगति मिलेगी, नहीं तो अशरण भावना भाने का कोई फल नहीं है। तीसरी भावना है संसार। यह संसार दुःखमय है, दुःख ही दुःख है, ठीक है, इस भावना से लाभ है, पर आनन्द की भी कोई वस्तु है, आनन्द का भी कोई तत्त्व है इसका कुछ भी परिचय न हो तो शान्ति कहाँ से आये? जब यह विदित हो कि मेरा स्वरूप स्वयं शान्तिमय है, आनन्दमय है, आनन्द का यह पिण्ड है, आनन्द से रचा है, और इसके अतिरिक्त बाकी समस्त स्थितियाँ दुःखमय हैं। ऐसी दोनों बातें ज्ञात हों तो संसार भावना का फल है।

**अपने आपकी संभाल बिना शान्ति की असंभवता—**भैया ! खुब आप अनुभव कर लीजिए, अपने आपको सम्हाले बिना, अपने आपकी दृष्टि हुए बिना जैसे स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप है, कृतकृत्य है उसका मर्म पाये बिना किसी भी स्थिति में शान्ति हो सकती हो तो देख लो। वैभव का क्या है? जितना है उससे 50 गुना भी आ जाय तो उसमें से आनन्द तो नहीं निकलता। उसमें से कभी शान्ति की किरण तो नहीं फूटती। धन वैभव से शान्ति तो मिलती नहीं, एक निर्णय है। शान्ति का कारण तो केवल अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि है। मुझे जगत में कुछ काम करने को नहीं है। मुझे जगत में कुछ भी भोगने को नहीं है, मैं कृतकृत्य हूँ, मेरा स्वरूप परिपूर्ण है, ज्ञानानन्द है, ऐसी अपने आपकी परिपूर्णता ध्यान में आये तो शान्ति मिलेगी, अन्य बातों में शान्ति नहीं मिलती। शत्रु से बोलचाल करे वहाँ भी शान्ति नहीं और स्त्री, पुत्र, परिवार से भी बोलचाल करे वहाँ भी शान्ति नहीं, अशान्ति के वे दो प्रकार हैं। विरोध की बात में और तरह की अशान्ति है और परिवार के राग की बातों में और तरह की अशान्ति है। तो इन भावनाओं से इस जीव को बड़ा उपकार है। इन भावनाओं के प्रसाद से जीव एक ज्ञानानन्द को प्राप्त करता है।

**अन्यत्वभावनागर्भित एकत्वभावना का प्रभाव—**मैं सर्वत्र अकेला हूँ, मेरा कोई साथी नहीं, मेरा कोई सम्बन्धी नहीं, इस भावना में दुःख तो कम है, लेकिन कोई जीव अपने को अमुक नाम वाला मानकर जिसमें सुख दुःख की बात बीत रही है उसे मानकर उसे अकेला समझे तो उसने कभी परमार्थ आनन्द नहीं पाया। जैसे घर में जब झगड़ा हो जाता और कोई किसी प्रकार का छल कपट करता तो यह झुँझलाकर कहने लगता—हटो, यहाँ किसी का कोई नहीं है, तो क्या यह ज्ञान से कह रहा है? वह तो दुःख की झुँझलाहट है। मेरा कोई नहीं है, मैं तो अकेला ही हूँ ऐसा बोलता है यह मोही जीव, पर वह झुँझलाहट है। रागादिक भावों से भी भिन्न केवल ज्ञायकस्वरूप अपने आपको निरखकर परमार्थ एकत्व की बात कहे यह है परमार्थ से एकत्व की भावना और इस शरीर को निरखकर बोले कि मैं तो अकेला ही हूँ, मैं तो अकेला पड़ गया, तो ऐसे इस प्रयोजन वाले को अकेला मानने में एकत्व भावना नहीं आयी। वह भी है भावना, मगर परमार्थ से

जैसा मैं सहज ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ उस अकेलेपन को निरखे तो एकत्व भावना है। आप जब अपने अकेलेपन का ध्यान करने लगे तब शान्ति आयेगी और जब आप अपने को आडम्बर वाला अनुभव करेंगे, मेरे तो इतना कुटुम्ब है, मेरे तो इतना वैभव है, मेरे इतने मित्रजन हैं, वहाँ शान्ति न मिल सकेगी, क्योंकि दृष्टि निज को छोड़कर पर की ओर लगी है और पर हैं सब भिन्न पर हैं सब विनाशीक, वे जुड़े होंगे नष्ट होंगे तब यह खेद मानेगा। लोकव्यवहार में भी देखो—जब घर का कोई इष्ट गुजर जाता है तो मित्र लोग रिश्तेदार घर वालों को समझाने आते हैं। तो आखिर ऐसी कौनसी बात समझाने की होती है जिससे घर वालों का दुःख दूर हो जाय? समझाना तो यह चाहिए कि वह जीव अकेला था, अकेला चला गया, इसमें क्या दुःख मानना, पर यह न समझकर लोग क्या कहते वह तो बड़ा उपकारी था, सबकी खबर रखता था, सबको चाहता था, यों उसके गुण गाकर घर वालों को और दुःखी करते हैं। तो यह एकत्व भावना का ही प्रसाद है कि निज स्वरूप में उपयोग जमता है और बड़ा आनन्द बरसता है।

**अशुचिभावना में तत्त्वानुप्रेक्षण—**अशुचि भावना—यह देह अपवित्र है, घिनावना है, भीतर से लेकर बाहर तक सर्वत्र मल ही मल है। हड्डी है, मांस है, मज्जा, खून, चमड़ा, रोम, मल, मूत्र आदि है, यों सारी गंदी ही गंदी चीजें हैं। यह भावना किसलिए भायी थी कि इस शरीर से प्रेम न उत्पन्न हो। किसी के शरीर को निरखकर उसमें काम व्यथा न हो इसलिए अशुचि भावना भायी है। अब कोई पुरुष अशुचि-अशुचि ही गाता रहे, यह भी अपवित्र, यह भी अपवित्र, यों कहकर नाक सिकोड़े तो उसने अशुचि भावना से कुछ भी लाभ नहीं पाया। जो शुचि चीज है वह मेरा ज्ञान है, उत्कृष्ट, पवित्र, अमूर्त है, ज्योतिस्वरूप है, जानन जिसका काम है। जाननहार ऐसा शुद्ध पवित्र मेरा स्वरूप वह शुचि है। यह निरखना चाहिए तो पावन आत्मतत्त्व का लाभ होगा। शुचि का तो पता न हो और बाहर की इन चीजों को गंदी ही गंदी देखते रहें तो उस अशुचि भावना से कोई लाभ नहीं पाया जा सकता। एक अपना ग्लानि का ही परिणाम बनाया अशुचि भावना के लिए, शुचि भी कुछ है उसका परिचय हो तो यह पर से हटकर अपने आपके स्वरूप में लगाने वाली भावना है।

**आस्रव, संवर, निर्जरा भावना में प्रेक्षण—**आस्रव भावना—रागद्वेष, मोह, ये सब आस्रव भाव हैं, इनके कारण कर्म आते हैं, ये स्वयं परापेक्ष हैं, कर्मोदय से रागादिक भावास्रव होते हैं। यह आस्रव दुःखदायी है। तो आस्रव दुःखदायी हैं इसके साथ यह भी पता हो कि आस्रवरहित मेरा स्वरूप है। यदि स्वरूप का ही ज्ञान हो कि ये मैं हूँ और ये मेरे में आस्रव हैं तो आस्रव से छूटें कैसे? रागद्वेष ये आये हैं निमित्त पाकर, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। यों निरास्रव स्वरूप की भावना भाने से शान्ति मिलती है। संवरभावना—मेरा स्वरूप संवर रूप है। इनमें किसी भी परतत्त्व का प्रवेश ही नहीं है, ये मेरा स्वभाव है। स्वभाव की भावना भाने से बहुत से विकल्प, संकल्प, खेद, चिन्ता ये दूर हो जाते हैं। यद्यपि मेरा संवर स्वरूप है फिर भी अनादिकालीन कर्ममलीमसता के कारण जो रागादिक आये हैं, संस्कार बसे हैं, कर्म बँधे हैं वे झड़ सकते हैं। और वे स्वरूप

की संभाल करने से झड़ जाते हैं। खेद की कुछ बात नहीं। आये हैं तो इनको झाड़ने की भी हममें कला है। अपने स्वरूप की संभाल करके उन बंधों को छुड़ा दें इसका नाम निर्जरा है।

**लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मभावना के विचार**—लोकभावना में विचार लो कि इस लोक के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्म-मरण हुआ, अब कहाँ जाना, क्या देखना, कहाँ रमना, किसे अपना ठौर मानना। यह लोकभावना है। जगत में रुलते-रुलते नाना कुयोनियों में भटकते-भटकते आज मनुष्य हुए हैं, बुद्धि जगी है, सत्समागम मिला है, जैनशासन मिला है, बड़ी दुर्लभता से ये चीजें प्राप्त हुई हैं। अब इस उत्कृष्ट मानवजीवन को यों ही नहीं व्यर्थ में खो देना है। इसकी संभाल करना, यह बोधिदुर्लभ भावना है। धर्म का स्वरूप विचारना, धर्म का फल, धर्म की महिमा जानना, धर्म ही शरण है, धर्म से ही शान्ति है इन बातों का चिन्तन करना धर्मभावना है। यों बारह भावनाओं को भा करके यह जीव लोक में सुख शान्ति पाता है और परलोक में भी आनन्द प्राप्त करता है।

### श्लोक-243

विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम्।

उन्मिषति बोधिदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात्॥243॥

**द्वादश अनुप्रेक्षावों का फल**—बारह भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करने से पुरुषों के हृदय में कषाय राग की अग्नि तो बुझ जाती है और परद्रव्यों के सम्बन्ध में रागभाव गल जाता है और अज्ञानरूप अंधकार का विलय होता है, ज्ञानरूप दीप का प्रकाश होता है। भावनाओं के अभ्यास के इसमें 4 फल बताये गए हैं। कषाय अग्नि शान्त होती है। जो पुरुष अनित्य आदिक बारह भावनाओं में अपनी सृष्टि लगाये रहते हैं उनके कषाय अग्नि नहीं जग सकती है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह ये 6 जीव के आन्तरिक शत्रु हैं, सो देख ही रहे हैं। दूसरों को देखकर बहुत जल्दी निर्णय होगा। यह जल्दी असार जँचने लगता है। देखो यह व्यर्थ का मोह किए हुए हैं। जैसे किसी का लड़का भाग जाय, सालों से पता न पड़े तो उसकी माँ और पिता निरन्तर विह्वल बने रहते हैं। 5-7 वर्ष भी हो गए कोई पत्र भी नहीं आया, फिर वे निरन्तर दुःखी रहते हैं। कितना ही उन्हें समझाओ, पर बात उनकी समझ में नहीं आती। तब अपने को ऐसा लगता कि ये कितने मूढ़ हैं। अरे क्या हो गया, आये तो क्या, न आये तो क्या? उनका मोह तो झट अपनी समझ में आ जाता है। तो जैसे उनके लिए हम दूसरे हैं और समझाते हैं फिर भी समझ में नहीं आता, मोह ऐसा बनाया है तो हमारे लिए वह दूसरा है। हम भी कहीं मोह बनाये हैं राग बनाये हैं, तो दूसरे लोग हमारे विषय में भी सोचते

न होंगे क्या? सबकी यही दशा है। दूसरे के आँख की फुली भी जल्दी नजर में आ जाती है, पर अपनी आँख का टेंट भी नजर नहीं आता। दूसरे की गलती मोह है, विकट अज्ञान है, झट समझ में आता है, खुद क्या कर रहे हैं यह बात अपनी दृष्टि में नहीं आती। बारह भावनाओं का अभ्यास हो तो ये छहों शत्रु विलीन हो जायेंगे।

**बारह भावना से संताप रूप काम की शान्ति**—काम भी कितनी विकट अग्नि है। काम को अग्नि की ही उपमा दी है। काम का संताप बुरा होता है उसकी 10 बुरी दशाएँ होती हैं। और जब से किसी काम विकार की धुन लग जाय तब से संताप बढ़-बढ़कर अन्त में 10 वीं दशा मृत्यु है वह हो जाती है। जरा सा कोई स्त्री का कन्या का चित्रपट देखा, पुराणों की बात सुन लो तो बड़े-बड़े राजावों के बड़े समर्थ पुत्रों ने आहार छोड़ दिया, हम भोजन न करेंगे जब तक यह न मिलेगी। ऐसी बात यदि यही कोई करे तो उसे कितना पागल बतायेंगे, लेकिन मोहियों के संग थे सो मोही परिवार ने उसे आदर दिया। मेरा राजपुत्र यह चाहता है। चड़ाई करें और उस राजा की कन्या लावें तो यह सब काम की विडम्बना है। वे समर्थ लोग थे, शक्तिशाली थे इसलिए वे ऐसे कार्य करते थे। यहाँ अशक्त हैं तो लोग गंदी तरह से विडम्बनाएँ करते हैं, पर काम की अग्नि भी बड़ा संताप करने वाली है। तो काम वैरी भी परास्त हो जाता है, सो बारह भावनाओं के अभ्यास करता है।

**बारह भावनाओं से कषायों का शमन**—जो इन बारह भावनाओं का अभ्यासी है वह कषायों को सबको शान्त करता है। तत्त्व का जहाँ चिन्तन है, अनित्यता का जहाँ परिचय है, अपने संवर स्वरूप जहाँ ध्यान है, अपने एकत्व का विचार है। यों ही सभी भावनाओं की बात है वहाँ यहाँ किस पर क्रोध करे? खुद ही तो बड़ी विपत्ति में पड़े हुए हैं जो अपना चिन्तन करता है उसके क्रोध नहीं ठहरता, घमंड भी वह क्या करेगा। अज्ञान में ही तो मद पैदा होता है। जिसने अपने एकत्वस्वरूप का परिचय कर लिया और उस ही स्वरूप की जो भावना रख रहा है वह कैसे घमंड करेगा? तो जो ज्ञानी पुरुष हैं उसके मान कषाय भी नहीं ठहरती। मायाचार का तो प्रयोजन ही क्या? मायाचार तो वह करता है जो अपना ऐसा लक्ष्य बनाये हैं कि मुझे तो यही रहना है और यह सब स्थिति हमारी है, इसे बढ़ाना है तो मायाचार करेगा। ज्ञानी पुरुष तो यों जानता है कि हम एक सराय में ठहर गए हैं। यहाँ से तो निकलना ही पड़ेगा। यहाँ घर तो नहीं बस सकता। तो सराय जैसा ज्ञानी पुरुष मानता है। और सराय में तो कुछ विनय करने से तो कुछ म्याद के बाद भी समय दिया जा सकता है लेकिन यह सराय तो ऐसी है कि म्याद पूरा होने पर फिर क्षण भर भी नहीं टिक सकता। तो जो यहाँ अपना स्थान नहीं मान रहा है वह मायाचार क्या करेगा। इसी प्रकार लोभ की बात है। किसलिए लोभ करना और उसके लोभ यों भी नहीं होता है कि उसे सब पता है कि कैसे सम्पदा आती है और कैसे जाती है, उसे सब सिद्धान्त का पता है। आना होता है आता है, जाना होता है जाता है। सब पुण्य पाप का ठाठ है। लोभ से

धन नहीं जुड़ता। तो ऐसी लोभकषाय भी ज्ञानी पुरुष के नहीं रहती। यों बारह भावनाओं का अभ्यास रखने से कषायें शान्त हो जाती हैं।

**बारह भावनाओं से राग का गलन**—बारह भावनाओं के अभ्यास का दूसरा फल बताया है कि परद्रव्यों के प्रति रागभाव गल जाता है। किसमें राग करना? जिसके यह भावना चल रही है, सब भिन्न हैं, सब विनाशीक है, सब अहित रूप हैं, सब कर्मबंध के कारण हैं उस पुरुष को किससे राग रहेगा। कुछ लोग इसलिए भी राग छोड़ देते हैं कि जब मरणासन्न से हो जाते हैं, अथवा बड़ी तीव्र वेदना है तो वे कहने लगते कि हमें अब किसी चीज में राग नहीं रहा, किसी में मोह नहीं रहा, मेरा अब अच्छी तरह मरण ऐसा हो जाय, कहते हुए बहुतों को देखा होगा। पर क्या आप उसकी बात को सच मान लेंगे? वह तो यह सब इसलिए कह रहा है कि उस समय की वेदना उसे असह्य है। राग मोह कम नहीं हुआ है। क्योंकि जो कल तक मोही था, रागी था वह एकाएक कैसे निर्मोह हो गया, क्या उसका ज्ञानसूर्य चमक गया। वहाँ वेदना इतनी तेज है कि उसे कुछ भी नहीं सुहाता है। जरा भी आराम हो जाय तो फिर उसकी प्रवृत्ति देख लो। वही हालत, वैसा ही मोह और अधिक राग आपको दिखेगा। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं जगता तब तक वास्तविक मायने में राग मिटता नहीं है। यह तो परिवर्तन हो गया। आज जान पर आ गयी तो घरबार को कौन देखे। तो मोह का परिणामन हुआ है, मोह का अभाव नहीं हुआ। मोह का अभाव तो जो तत्त्वज्ञानी है, बारह भावनाओं के अभ्यासी हैं उनके होते है। दृष्टि भर बदलनी है लो सम्यक्त्व हो गया। अपने आपका भाव ही तो बदला और शान्ति मिल गयी। तो जिसे तत्त्वज्ञान हुआ है और उस तत्त्व की भावना करता है उस पुरुष के मोहभाव नहीं ठहराता।

**बारह भावनाओं से अज्ञानान्धकार का विनाश**—तीसरा फल बताया है कि बारह भावनाओं के अभ्यास से अज्ञानरूपी अंधकार का विलय हो जाता है। बराबर दृष्टि का जाना इनका ही नाम भावना है। जिसने तत्त्व का निर्णय किया है उस स्वरूप पर बार-बार दृष्टि पहुँचते रहने का नाम भावना है। जैसे वैद्य लोग औषधि बनाते हैं तो उसमें भावनारस भी देते हैं, आंवले से भावना वाला चूर्ण बनाते हैं तो पहिले सूखे आंवले का चूर्ण निकाला फिर अनेक बार कच्चे आंवले के रस से उसको भिगोते हैं। वैद्य लोग भी भावना वाला चूर्ण देते हैं। तो बार-बार उस रस से भिगोने का नाम भावना है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के रस में बार-बार अपने को भिगोने का नाम भावना है। तो जो निज ज्ञायक रस में अपने को भिगोता रहता हो उसके अज्ञान नहीं ठहर सकता है। अज्ञान उनके ठहरता है जो बाह्यपदार्थों में अपनी वासना बनाये रहते हैं। तो जो बारह भावनाओं के अभ्यासी हैं उनके अज्ञान अंधकार नहीं ठहरता।

**बारह भावनाओं के अभ्यास से ज्ञानदीप का प्रकाश**—चौथा फल बतला रहे हैं कि बारह भावनाओं के अभ्यासी का ज्ञान का दीपक प्रकाशित होता रहता है, जैसी दृष्टि होती है वैसी सृष्टि बनती है। सृष्टि का

साधन भी दृष्टि ही है। जैसा चित्त में आशय है वैसा ही इस पर गुजरता है। बात तो बिल्कुल सीधी सी है। कोई मनुष्य पाप का काम करता है तो लोकव्यवहार में यह कहते हैं कि यह परभव में फल भोगेगा, पर वास्तव में ही तो उस ही क्षण उसने उस पाप क्रिया का फल भोग लिया। उस समय क्षोभ हुआ, विकार हुआ, अज्ञानता की विह्वलता हुई, कुछ डर सा हुआ, जो भी हुआ हो वह सब उसने उसी समय भोगा। अब निमित्तनैमित्तिक भावों में जो कर्मबन्धन होता है उसके उदय काल में फिर भोगेगा वह उस समय की क्रियाओं का परिणाम भोगेगा। तो जब दृष्टि विपरीत होती है तो अज्ञान भाव से यह आवृत्त हो जाता है और जब दृष्टि सही होती है तो ज्ञान का दीपक प्रकाशित होता है। बारह भावनाओं के प्रकरण में यह उपसंहार चल रहा है। इस उपसंहार में इन बारह भावनाओं के भाने की महिमा फल बताकर आचार्यदेव ने जिज्ञासु पुरुषों को तत्त्व चिन्तन के लिए बार-बार प्रेरणा की है।

### श्लोक-244

एता द्वादश भावनाः खलु सखे संख्योऽपवर्गश्रिया।

स्तस्याः सङ्गमलालसैर्घटयितुं मैत्री प्रयुक्ता बुधैः।

एतासु प्रगुणीकृतासु नियतं मुक्त्यङ्गना जायते।

सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणां मुदे॥244॥

बारह भावनाओं में मुक्ति की संख्यता—ये बारह भावनाएँ मुक्तिरूपी लक्ष्मी की सखी हैं। जैसे सखियों का काम मैलमिलाप कराना होता है ऐसे ही बारह भावनाओं का काम मुक्तिरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति कराना है। इन बारह भावनाओं का बहुत विशाल स्वरूप है और प्रभाव है। छोटे से भी छोटे धर्माचरण की इच्छा रखने वाले पुरुष इन बारह भावनाओं से धर्म का प्रारम्भ करते हैं और बड़े से बड़े साधु भी बारह भावनाओं में अपने धर्माचरण की पूर्णता करते हैं। साधारणजन भी इन बारह भावनाओं को भाते हैं और बड़े-बड़े साधु पुरुष भी इन भावनाओं को भाते हैं, पर सबकी पदवी में सबकी दृष्टि में इन बारह भावनाओं का स्वरूप, फैलाव प्रभाव जुदे-जुदे और उत्कृष्ट होते जाते हैं। तो ये बारह भावनाएँ मुक्तिरूपी लक्ष्मी की सखी हैं। तथा यह मित्रता करने के लिए एक प्रयोगरूप है। जिसे किसी की प्रसन्नता चाहिए हो, और किसी की मित्रता चाहिए हों, कृपा चाहिए हो तो उसके लिए कुछ व्यवहार बनाना पड़ता है ना, कोई प्रयोगरूप उपाय करना पड़ता है। तो मुक्तिरूपी लक्ष्मी का संगम करने के लिए ये बारह भावनाएँ बहुत उत्तम है यह मित्रता का प्रयोग है यों ही

कोरे लट्ट से बैठ जायें यों ही ऐंठे रहे, वह तो किसी से मित्रता करने का ढंग नहीं है। ढंग होता है हित मित प्रिय वचन बोलना। उसके चित्त को सुहाये ऐसी बात बोलना, यह मित्रता का उपाय होता है लोक में।

**मुक्ति में लक्ष्मीत्व का अलंकार**—यहाँ मुक्तिरूपी लक्ष्मी की भावनाओं का भाना प्रयोग बताया है और साधु पुरुषों का इन बारह भावनाओं में खासा प्रयोग होता है और गृहस्थजनों को भी देखो—सबसे शुरू में बच्चे को जब धर्म पढ़ाते हैं तो तीन चार पाठ के बाद ही यह बारह भावनाएँ रख देते हैं। तो धर्म का प्रारम्भ भी इन बारह भावनाओं से किया जाता है और इसकी पूर्णता भी इन बारह भावनाओं में कर ली जाती है। तो इसका भाना मुक्ति संगम के लिए उसकी मित्रता के लिए प्रयोगरूप है। जो पुरुष इन भावनाओं का अभ्यास करता है उस पुरुष को यह मुक्तिरूपी वनिता आनन्द सहित प्रसन्न होकर आनन्द को देने वाली होती है। संसारीजनों को समझाने के लिए उनकी ही भाषा में मुक्ति श्री बोला जाता है। वैसे तो कुछ वर्णन करते समय मुक्ति को स्त्री का रूपक बनाकर और योगीश्वर को उसके दूल्हा बनाना, यह कोई शोभनीय बात तो नहीं है लेकिन मोही लोग जो स्त्री को महत्व देने के आदी हैं, इसे सांसारिक सुख समझते हैं उनके लिए यों भी कह दिया जाता है।

**मुक्ति और मुक्तिपथ में भावनाओं का सहयोग**—मुक्ति तो आत्मा का एक विशुद्ध परिणाम है और जहाँ केवल ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव रहता है, जो कि अनिवार्य भी है इसके फल में समस्त विश्व का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है, लेकिन मोक्ष नाम सबको जानने का नहीं है, केवल निज सहज स्वरूप रह जाने का नाम मोक्ष है। तो जहाँ केवल रह गया, सहज स्वरूप में बस गया वहाँ उसे अनन्त आनन्द उत्पन्न होता है इस ग्रन्थ में मुख्यतया ध्यान का वर्णन चलेगा। ध्यान के लिए इतनी तैयारी बनाना इसके लिए बारह भावनाओं का वर्णन किया है। बहुत से लोग यों कहते हैं कि हमारा चित्त धर्म कार्य में नहीं ठहरता और यत्र तत्र भ्रमण करता रहता है। तो क्यों भ्रमण करता है और चित्त यहाँ वहाँ न डोले इसका उपाय क्या है? तो भ्रमण तो यों हुआ करता है कि उनके चित्त में राग और मोह बसा है। राग मोह का विषय एक होता नहीं, वह विषय बदलता रहता है। विषय भी विघटित होते रहते हैं। जब तीव्र पाप का उदय चल रहा हो तो इन बारह भावनाओं के भाने से सारी समस्या हल हो जाती हैं। चित्त आत्मा की ओर लग जाता है। तो इन ध्यान वाले ग्रन्थों में ध्यान की बात पात्रता बनाने के लिए बारह भावनाओं का वर्णन किया है।

**बारह भावनाओं से आत्मा की मुक्तिपात्रता**—ये बारह भावनाएँ संसार, शरीर और भोग से वैराग्य उत्पन्न कराने वाली हैं। संसार के मायने अपने भीतर का परिणाम। जिस कल्पना में बसे रहते हैं, और निज कल्पनाओं में बिगड़े रहते हैं अपराध किया और अपराध को अपराध न माना, यही है संसार का राग। और अपराध बना और उसे अपराध माना ऐसा तो करना चाहिए, तो वह है संसार का वैराग्य। तो संसार का अर्थ विभाव परिणाम है। उन विभावपरिणामों से वैराग्य होना, इस वैराग्य उपजाने का नाम है वैराग्य भावना। तो

बारह भावनाओं के चिन्तवन से शरीर से भी विरक्ति होती है और भोगों से भी विरक्ति होती है। भोगों के मायने ये बाहरी मिले हुए सब भौतिक पदार्थ—पुद्गल, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। ये इन्द्रियों के भोग हैं, तो इन भोगों से भी विरक्ति उत्पन्न होती है। तो संसार देह भोगों से वैराग्य कराने के लिए इस जीव को बारह भावनाओं का उपदेश किया गया है। इन बारह भावनाओं से बहुत संक्षेप में हम यह शिक्षा लें कि इस जीव ने अब तक पर्याय बुद्धि की, द्रव्यदृष्टि नहीं की, अपने नित्यस्वरूप को नहीं निरखा। इस जीव ने अब तक पर का शरण तो चाहा पर निज के शरण की सुध नहीं ली। इस जीव ने शरीर के दुःखों को सुख मानकर उनमें ही मस्ती की। कभी कोई अपने को अकेला न सोचे, अपने से पर को न्यारा न सोचे, और उन्हीं खोटी वासनाओं से कर्म बन्ध होता रहा। अब इन सबके मिलने का उपास संवर है और निर्जरा है। निर्जरा के प्रताप से ध्यान की बुद्धि होती है। इतना सब मिल गया, अब कहीं लोकेषणा में चित्त न फँसे, स्वतंत्र विचारें और इतने पर भी हम अपने स्वरूप से विचलित न हो जायें, इसके लिए सावधान बनाये रखने को बोधिदुर्लभ भावना भायी। और धर्मभावना तो सबका प्रयोजन ही है। उस धर्म में मग्न होने के लिए योगियों ने इन बारह भावनाओं का चिन्तवन किया। हम आपका भी कर्तव्य है कि तत्त्व की दृष्टि बनायें और इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करके अपने आपको मुक्ति का पात्र बनायें।

॥ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त॥